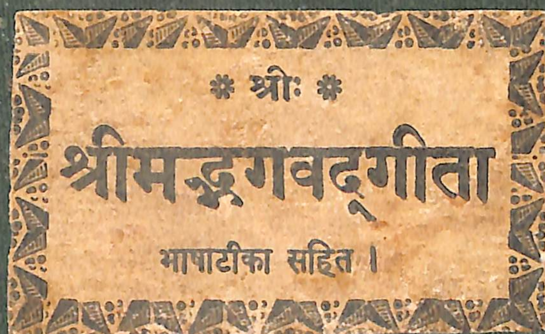


* श्रीः *
श्रीमद्भगवद्गीता
भाषाटीका सहित ।

श्रीमद्भगवद्गीता

दोहा-भाषाटीका सहिता।



टीकाकार-पं० मदनमोहन पाठक।

प्रकाशक-

भार्गव पुस्तकालय बनारस सिटी

२३०।३४

* श्रीः *

श्रीमद्भगवद्गीता

दोहा-भाषाटीका-सहिता ।



काशीस्थकाशीनाथसंस्कृतपाठशालाध्यापकेन
व्याकरणाचार्य 'विद्यारत्न' पण्डित-
माधवप्रसादव्यासेन संशोधिता ।

सेयं

काशीस्थभार्गवपुस्तकालयाध्यक्षेण
बाबू कैलासनाथभार्गवेण

स्वकीये

'भार्गवभूषण' नाम्नि यन्त्रालये मुद्रयित्वा
प्राकाश्यं नीता ।

संवत् १९९०



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम् ।



दोहा-भाषाटीका-सहितम् ।

॥ धरोवाच ॥

भगवन्परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी ।
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥ १ ॥

दोहा—पृथ्वी पूछै विष्णु से, सुनिये माधवराय ।
कर्म भोगि इस जीव को, कैसे भक्ति सुभाय ॥ १ ॥

हे भगवन् ! हे परमेश ! इस संसार में अपने किये हुए कर्मों का फल निरन्तर भोगते हुए जीवों को आप की अनन्य भक्ति कैसे मिल सकती है, वह उपाय कृपापूर्वक मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

॥ विष्णुरुवाच ॥

प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ २ ॥

दोहा—प्रारब्धी निज कर्म को, भोगै जीव हमेश ।
गीतापाठ प्रभावते, पावै भक्ति विशेष ॥ २ ॥

यह सुन विष्णु भगवान् बोले कि हे धरे ! प्रारब्ध के कर्मों को भोगता हुआ यह जीव जो सदा गीता के अभ्यास में तत्पर रहता है वही मुक्त और सुखी है और इस लोक में प्रारब्ध कर्म भी उसका कुछ नहीं कर सकता है ॥ २ ॥

महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् ।
क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्भसा ॥३॥

दोहा—महापातकी यदि करै, गीता का अभ्यास ।
पातक वाको ना छुवै, कमलपत्र जल वास ॥ ३ ॥

जो पुरुष बड़ा से बड़ा पाप करके भी प्रतिदिन गीता का पाठ करता है, उसको वे पाप ऐसे स्पर्श नहीं कर सकते जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहर सकता है ॥ ३ ॥

गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥ ४ ॥

दोहा—जेहि घर में गीता बसे, पुस्तक पाठ करन्त ।
सब तीरथ वा ठौर हैं, प्रयागादि अनन्त ॥ ४ ॥

जहाँ गीता की पुस्तक रहती है अथवा जहाँ कहीं गीता का पाठ होता है, वहाँ प्रयागराज आदि सब तीर्थ निवास करते हैं ॥ ४ ॥

सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदाः ॥ ५ ॥

दोदा—सबै देव ऋषि योगिजन, पन्नग गोपी ग्वाल ।
नारद उद्धव पारषद, बसत तहाँ नँदलाल ॥ ५ ॥

जहाँ गीता का पाठ होता है वहाँ सम्पूर्ण देवता, ऋषि, योगी, पन्नग, गोप, गोपी, नारद और उद्धव आदि भगवान् के पार्षद निवास करते हैं ॥ ५ ॥

सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ।
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् ॥
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ॥६॥

दोहा-करौं सहाय सुशीघ्र ही, जहँ गीता सुखवास ।
जो बाँचै सीखै सुनै, उनके रक्षक पास ॥ ६ ॥

जहाँ गीता का पठन-पाठन होता है, वहाँ किसी प्रकार की विपत्ति आने पर भगवान् शीघ्र सहायता करते हैं, जहाँ गीता का विचार, पठन,पाठन और श्रवण होता है, वहाँ हे पृथ्वि ! मैं सदा ही निवास करता हूँ ॥ ६ ॥

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम् ॥७॥

दोहा-गीता मम आश्रय सुखद, गीता पुनि सुख धाम ।
गीता के हौं इष्ट सो, रखौं त्रिलोक ललाम ॥ ७ ॥

हे पृथ्वि ! मैं श्रीगीता के आश्रय पर रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम घर है और गीताज्ञान के आश्रय से तीनों लोक का पालन करता हूँ ॥ ७ ॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका ॥८॥

दोहा-मेरी विद्या परम वह, गीता ब्रह्म सरूप ।
अर्धमात्र अक्षर अमर, अनिर्वचनता रूप ॥ ८ ॥

गीता मेरी उत्तम विद्या है । यह ब्रह्मस्वरूप अर्धमात्रारूप, अक्षर, नित्य और अनिर्वचनीय अर्थात् प्रतिपादन करने के अयोग्य है ॥ ८ ॥

चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥ ९ ॥

दोहा—चिदानन्द श्रीकृष्ण के, मुख ते अर्जुन हेत।
वेदत्रयी आनन्दमय, तत्त्वज्ञानहिं सेत ॥ ६ ॥

इस गीता को चिदानन्दस्वरूप, श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने मुख से अर्जुन को सुनाया है, यह वेदत्रयीरूप आनन्ददायिनी और तत्त्वज्ञान से युक्त है ॥ ६ ॥

योऽष्टादशं जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥१०॥

दोहा—अष्टादश अध्याय को, नित्य करै जो जाप।
ज्ञान सिद्धि मोक्षहु मिलै, छूट जात भवताप ॥ १० ॥

जो मनुष्य चित्त को एकाग्र कर अठारह अध्याय का पाठ करता है, उसको ज्ञान की सिद्धि मिल जाती है और अन्त में उसे परमपद प्राप्त होता है ॥ १० ॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्धं पाठमाचरेत्।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥११॥

दोहा—जो सब पाठ न करि सकै, आधा करै निदान।
गऊदान के पुण्यसम, पावै पद सुखदान ॥ ११ ॥

जो पूरा पाठ करने में असमर्थ है वह आधा भी पाठ करे तो उसे गोदान का फल मिलता है, इस में कोई संदेह नहीं है॥ ११॥

त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत्।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥१२॥

दोहा—तीजा हिस्सा पाठ ते, गङ्गनहान समान।
छठो भाग के पाठते, सोमयज्ञ सम मान ॥ १२ ॥

जो तृतीयांश अर्थात् छः अध्याय का ही पाठ करता है, उसे गङ्गास्नान का फल मिलता है, और जो छठा भाग अर्थात् तीन अध्याय का ही पाठ करता है उसे सोमयज्ञ का फल मिलताहै॥ १२॥

एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥१३॥

दोहा—इक अध्याय जो पढ़त हैं, नित्य भक्ति संयुक्त ।
गणस्वरूप ह्वै वसत सो, रुद्र लोक में मुक्त ॥ १३ ॥

जो भक्ति से एक ही अध्याय का नित्य पाठ करता है, वह कैलास में जाकर महादेवजी का गण बनकर वहाँ बहुत दिन तक निवास करता है ॥ १४ ॥

अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ॥ १४ ॥

दोहा—एक श्लोक अध्याय पद, नित्य पढ़त नर जोय ।
एक मनू के समय तक, नर तनुधारै सोय ॥ १४ ॥

हे वसुन्धरे! जो एक अध्याय, एक श्लोक या एक पाद का नित्य पाठ करता है वह एक मन्वन्तर तक मनुष्यदेह पाता है॥१४॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः॥१५॥

दोहा—जो गीता के श्लोक दश, सात पाँच पुनि चार ।
तीन दोय एक अर्धही, नितही पढ़त सुधार ॥ १५ ॥

जो गीता के दश, सात, पाँच, चार, दो, तीन, एक, आधा श्लोक प्रतिदिन पाठ करता है—॥ १५ ॥

चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ।
गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥१६॥

दोहा—चन्द्रलोक में वसत है, संवत् दश हज़ार।
गीता बाँचत मृत्यु गहि, पुनि नरतनु अवतार ॥ १६ ॥

वह मनुष्य दश सहस्र वर्ष तक चन्द्रलोक में निवास करता है और जो मनुष्य गीता का पाठ करते करते देह त्याग देता हैं, वह फिर मनुष्य देह पाता है ॥ १६ ॥

गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ।
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥१७॥

दोहा—गीता का अभ्यास करि, उत्तम मुक्ति लहन्त।
गीता गीता कहत पुनि, मुये सुमुक्त भनन्त ॥ १७ ॥

और फिर गीता का अभ्यास करने से मोक्ष पा लेता है। जो गीता गीता करते ही प्राण त्याग देता है, वह उत्तम गति को पाता है ॥ १७ ॥

गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥१८॥

दोहा—जो गीता के अर्थ में, पापी नर आसक्त।
विष्णु सहित वैकुण्ठ वसि, है भवबन्धन मुक्त ॥ १८ ॥

यदि कोई मनुष्य महापापी भी हो और वह गीता के अर्थ के सुनने में आसक्त हो तो वह वैकुण्ठधाम पाता है और विष्णु भगवान् के साथ आनन्द करता है ॥ १८ ॥

गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम् ॥१९॥

दोहा—करिकै बहु तै कर्म पुनि, हिय गीता को ध्यान।
धरै सो जीवन्मुक्त नर, परे परमपद मान ॥ १९ ॥

जो अनेक प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी गीता के अर्थ का नित्य ही ध्यान करता है, वह जीवन्मुक्त है और मरने पर परमपद पाता है ॥ १९ ॥

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा याता गीतागीताः परं पदम् ॥२०॥

दोहा—गीता के आश्रित भये, जनकादिक बहु भूप ।
गये परमपद पाप तजि, भये ब्रह्म के रूप ॥ २० ॥

गीता के आश्रय से बहुत से जनकादि राजा पापों से छूट गये और गीता २ करते हुए मोक्षपद पा गये ॥२०॥

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥२१॥

दोहा—बिना पढ़े माहात्म्य के, करे जो गीता पाठ ।
केवल श्रम का भागि सो, वृथा सुगीता पाठ ॥ २१ ॥

जो गीता का पाठ करके माहात्म्य का पाठ नहीं करता है उसका गीता पाठ वृथा है, केवल परिश्रम मात्र है ॥ २१ ॥

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः ।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥२२॥

दोहा—यह माहात्म्य नियुक्त कर, कर गीता को पाठ ।
दुर्लभ गति जो हरि कथित, मिलै रती नहिं घाट ॥ २२ ॥

जो माहात्म्य सहित गीता का पाठ करता है वह गीता के पाठ का फल पाता है और उसको दुर्लभ गति मिलती है ॥ २२ ॥

॥ सूत उवाच ॥

माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत्॥२३॥

दोहा—गीता को माहात्म्य इमि, कह्यो तुमहिं समुझाय ।
पढ़े अन्त सब फलद यह, गीता फल अध्याय ॥ २३ ॥

सूतजी कहते हैं कि हे शौनकादि ऋषियों ! गीता का जो माहात्म्य मैंने तुमको सुनाया है, वह सनातन है। जो कोई गीता का पाठ करके इसका पाठ करता है, वह गीतापाठ का फल पाता है ॥ २३ ॥

इति श्रीवाराहपुराणे गीतामाहात्म्यं समाप्तम् ।





ॐ श्रीगणेशाय नमः ॐ

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य श्रीभगवान्वेदव्यास ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम्। सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति शक्तिः। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम्। श्रीकृष्णोक्तफलावाप्तये विनियोगः॥ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः॥ न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति मध्यमाभ्यां नमः॥ नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः॥ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रस इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः॥ नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः॥ अथ हृदयादिन्यासः॥ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः॥ न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति शिखायै वषट्॥ नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम्॥ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः, इति नेत्रत्रयाय वौषट्॥ नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति अस्त्राय फट्॥ अथ ध्यानम्॥ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारते। अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥१॥ नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र। येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः

॥२॥ प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३ ॥ सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ४ ॥ वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् । देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥५॥ भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला । अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥६॥ पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम्। लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसिनः श्रेयसे ॥७॥ मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्॥ यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥८॥ यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः। ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ ९ ॥ इति ध्यानम् ॥



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

श्रीमद्भगवद्गीता

दोहा-भाषाटीकासहिता

* प्रारभ्यते *

दोहा—गुरु गणेश गौरीश हरि, प्रणमौं भक्ति समेत ।
दोहनि सों गीतार्थ हौं, बरनौं मुक्ति सुहेत ॥

॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

दोहा—धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, जुरे युद्ध के साज ।
सञ्जय मो सुत पाण्डुसुत, किये कौन विधि काज ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र सञ्जय से पूछते हैं कि हे सञ्जय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए दुर्योधनादिक मेरे पुत्र और पाण्डुपुत्रों ने क्या किया ? ॥ १ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

दोहा—पाण्डव सेना व्यूह लखि, दुर्योधन ढिग जाय ।
निज आचारज द्रोण सों, बोल्यो ऐसे भाय ॥ २ ॥

सञ्जय ने कहा हे धृतराष्ट्र ! राजा दुर्योधन पाण्डवों की व्यूहरचना देखकर अपने गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर बोला ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

दोहा-पाण्डवसेना अति बड़ी, आचारज तू जोइ ।
धृष्टद्युम्न तव शिष्यने, व्यूह रच्यो जो सोइ ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! आप के बुद्धिमान् शिष्य राजा द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने जिसको व्यूहरचना की है पाण्डवों की इस बड़ी सेना को देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

दोहा-शूर धनुषधारी बड़े, अर्जुन भीम समान ।
द्रुपद महारथ और पुनि, हैं विराट युयुधान ॥ ४ ॥

हे आचार्य ! इस सेना में भीम और अर्जुन के समान बड़े २ धनुषधारी शूर वीर इकट्ठे हुए हैं इनमें युयुधान, विराट और महारथी द्रुपद हैं ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

दोहा-धृष्टकेतु अरु काशिपति, चेकितान बलवन्त ।
कुन्तिभोज अरु शैब्य पुनि, पुरुजित शत्रु निकन्त ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु, चेकितान, महाबली काशीराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य भी हैं ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

दोहा–युधामन्यु अतिविक्रमी, उत्तमौज रणवीर ।
द्रौपतिसुत अभिमन्यु ये, महारथी बबवीर ॥ ६ ॥

अतिपराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और विन्ध्यादिक द्रौपदी के पांच पुत्र, ये सभी महारथी हैं ॥६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

दोहा–मो सेना में जो बड़े, ते सब सुनु द्विजराज ।
नीके तुम जानौ तिन्हे, खड़े युद्ध जे साज ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम ! मेरी सेना में जो बड़े शूरवीर सेनापति हैं, उनके नाम मैं आपके सन्मुख कहता हूँ, उन्हें सुनिये ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

दोहा–तुम अरु भीषम कर्ण कृप, जीते निज संग्राम ।
भूरिश्रवा विकर्ण अरु, अश्वत्थामा नाम ॥ ८ ॥

हमारी सेना के मुखियाओं में आप, भीष्मजी, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा, ये सभी युद्ध में जीतनेवाले हैं ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

दोहा–औरो बहुते शूर हैं, मम हित तजैं जु प्रान ।
भाँति भाँति आयुध लिये, सबै भुजा बलवान् ॥ ९ ॥

और भी बहुतसे शूरवीर हैं जो मेरे लिये अपने प्राणों का मोह छोड़कर आये हैं, ये अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हैं और सब ही युद्ध में बड़े चतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

दोहा—मो सेना असमर्थ है, भीषम राखत याहि ।
समरथ सेना तासुकी, जाको भीम सहाहि ॥ १० ॥

हमारी सेना के रक्षक भीष्मजी हैं इससे हमारी सेना सब तरह से युद्ध करने में समर्थ है कारण यह हैं कि-भीष्म जी, युद्धमें विशारद,योग्य और परिणामदर्शी हैं तथा पाण्डवों की सेना का रक्षक भीमसेन हैं इससे वह समर्थ नहीं है क्योंकि भीमसेन गँवार हैं और सेना भी थोड़ी है। वस्तुतःइसका अर्थ यह है कि भीष्म वृद्ध और उभयपक्षपाती हैं,इससे हमारी सेना असमर्थ है और पाण्डवों का सेनापति भीमसेन है इससे वह सेना समर्थ है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

दोहा—आस पास मो व्यूह के, तुम सब ठाढ़े होहु ।
भीषम की रक्षा करो, धर के मन में मोहु ॥ ११ ॥

इस लिये आप सब लोग युद्ध के सब मुर्चोंपर अपनी अपनी सेना लेकर भीष्मजी की रक्षा करिये। इसमें दो हेतु है कि भीष्मजी शत्रु से न जा मिलें अथवा कोई शत्रु पीछेसे आकर इन पर आक्रमण न करै ॥ ११ ॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

दोहा—दुर्योधन के हर्ष को, भीषम जू चित लाइ ।
सिंहनाद ऊँची कियो, दुःसह शङ्ख बजाइ ॥ १२ ॥

श्रीभीष्मपितामहजी ने दुर्योधन को आनन्द देते हुए सिंह की तरह गर्जना करके शङ्ख को बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

दोहा–तबहिं शङ्खभेरी पणव, आनक गोमुख तूरि ।
एक साथ बाजत भए, शब्द रह्यो रणपूरि ॥१३॥

शङ्ख, भेरी, पणव, आनक, गोमुख आदि बाजे बजाये गये कि जिनका शब्द दिगन्त में छा गया ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

दोहा–तबहिं श्वेत घोड़ा लिये, दोरथ रथहिं बनाय ।
कृष्णार्जुन तापर चढ़े, अद्भुत शङ्ख बजाय ॥ १४ ॥

इसके बाद श्वेत वर्ण के घोड़ों से युक्त रथ में श्रीकृष्ण-चन्द्र और अर्जुन बैठ कर दिव्य शङ्ख को बजाने लगे ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

दोहा–देवदत्त अर्जुन लियो, पाञ्चजन्य यदुनाथ ।
भीम भयानक ध्वनि कियो, पौण्ड्रक शङ्ख जुहाथ ॥१५॥

श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त तथा भीमसेन ने पौण्ड्र नामक शङ्ख को बजाया ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

दोहा–नृपति युधिष्ठिर ने कियो, अनन्त बिजय को घोष ।
पुनि सहदेवरु नकुल ने, मणिपुष्पक को घोष ॥ १६ ॥

श्रीनरदेव युधिष्ठिरजी ने अनन्तविजय नामक शङ्ख को, नकुल और सहदेव ने सुघोषक और मणिपुष्पक शङ्ख को बजाया ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥

दोहा—महाधनुर्धर काशिपति, रथी शिखण्डी जानि ।
धृष्टद्युम्न विराट अति, बली सात्यकिहि मानि ॥ १७ ॥

और काशिराज, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अपराजित सात्यकि ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥१८॥

दोहा—द्रुपद द्रौपदीसुत सबै, और सुभद्रापूत ।
अपने अपने शङ्ख ले, धुनि कीनी मजबूत ॥ १८ ॥

राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु निज निज शङ्खों को लेकर बजाने लगे ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥

दोहा—फट्यो हृदय कौरवन को, शब्द सुन्यो ता बार ।
पृथिवी अरु आकाश में, पूरि रह्यो गुन्जार ॥ १९ ॥

उन शङ्खों के अतिगम्भीर शब्द ने आकाश और पृथ्वी में फैल कर धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादिकों के हृदय को विदीर्ण कर दिया ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

दोहा—देखे सुत धृतराष्ट्र के, अर्जुन धनुष सँवार।
कपिवर ताके ध्वज लसे, शस्त्रनि परत प्रहार ॥ २० ॥

हे राजन्! अर्जुन कौरवों को सन्मुख खड़े हुए देखकर धनुष को उठाने लगे ॥ २० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

दोहा—अर्जुन कहि अस कृष्णसों, मेरे चित यह बात।
दुहुँ सेना के माँझ रथ, ठाढ़ करो हे तात ॥ २१ ॥

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि हे अच्युत! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को खड़ा करो ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

दोहा—जब लगि देखों मैं इन्हें, जुरे युद्धहित आय।
कौन कौनसों हौं लरौं, या रन में समनाय ॥ २२ ॥

जिससे संग्रामभूमि में खड़े हुए योधाओं को मैं देखूँ कि किन २ से मुझे युद्ध करना है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दोहा—युद्ध करन धाये जितै, आये हैं करि ताज।
दुर्बुद्धीहित कौरवनि, भलो करन के काज ॥ २३ ॥

युद्ध के लिये तैयार दुर्बुद्धि दुर्योधन की प्रीति करनेवाले राजाओं को मैं देखूँगा ॥ २३ ॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

दोहा—ऐसेही श्रीकृष्ण जू, सुनि अर्जुन की बात ।
दोउ सेना के माँझ रथ, लै राख्यो सुनु तात ॥२४॥

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे भारत ! अर्जुन के यह वचन सुनकर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में रथ को खड़ा कर ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

दोहा—भीषम गुरु मुनि सकल नृप, तिन सनमुख सुविशेषि ।
कहत कृष्ण अर्जुन अवै, जुरे सवै कुरु देखि ॥ २५ ॥

भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य आदि वीरों के सामने अर्जुन से कहा कि हे पार्थ ! युद्ध के लिये उद्यत इन कौरवों को देखो ॥ २५ ॥

तत्राऽपश्यत् स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥

दोहा—तहँ अर्जुन देखे सबै, पिता पितामह भाय ।
गुरु मामा भैया सखा, सुत नाती समुदाय ॥ २६ ॥

अर्जुन ने परदल में अपने चाचा, बाबा, गुरु, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र और मित्रजन को शस्त्र लिये खड़े देखा ॥२६॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

दोहा—ससुर सुहृद बन्धू सकल, दोऊ सेना माँह ।
देखि तिन्हें करुणा भरे, इमि बोले नरनाह ॥ २७ ॥

और श्वसुर, सुजन, बान्धवों को स्थित देखकर परम दयापूर्वक ग्लानियुक्त यह वचन कहा ॥ २७ ॥

दृष्ट्वैनं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥२८॥

दोहा-देखे मैं सब बंधु ये, कृष्ण युद्ध में आय ।
मो मुख सूखत जात है, अङ्ग शिथिल ह्वै जाय ॥ २८ ॥

अर्जुन बोले कि हे कृष्ण ! युद्ध के लिये उद्यत निज जनों को देख कर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख सूखा जाता है ॥ २८ ॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥२९॥

दोहा-रोमाञ्चित तन होत है, और कम्पहू भाय ।
मम हाथनिसों धनु गिरे, त्वचा जरत अधिकाय ॥ २९ ॥

मेरा शरीर काँपता है, मेरे शरीर में रोमहर्ष हो आया है, गाण्डीव [धनुष] हाथ से गिरा जाता है और मेरी त्वचा जली जाती है ॥ २९ ॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशवः ॥३०॥

दोहा-हौं ठाढ़ो ह्वै नहिं सकत, भ्रमत जु है मन भीत ।
केशव शकुनहु देखियत, बहुत भाँति विपरीत ॥ ३० ॥

हे कृष्ण ! मैं यहाँ खड़े रहने में समर्थ नहीं हूँ, मेरा मन भ्रम रहा है और मैं अशुभप्रद शकुनों को देख रहा हूँ ॥ ३० ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

दोहा-स्वजन हनों संग्राम में, यह नहिं उत्तम तात ।
भलौ न आपन देखियतु, हैं विपरीत सुबात ।
विजय न चाहौं कृष्णजी, चाहौं नहिं सुखराज ॥३१॥

संग्राम में स्वजनों को मारकर मैं कल्याण नहीं देखता हूँ । हे कृष्ण ! युद्ध में विजय और राज तथा सुख की मेरी इच्छा नहीं है ॥ ३१ ॥

किन्नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥ ३२ ॥

दोहा—राजभोग से कृष्ण का, अरु जीवन केहि काज ।
राजभोग सुख आदि सब, करिय तनकि के काज ॥ ३२ ॥

हे गोविंद ! हमको राज्य, भोग तथा जीवन से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि जिसके लिये राज्य, भोग्य और सुख की कामना की जाती है ॥ ३२ ॥

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥ ३३ ॥

दोहा—ये धन प्रान गँवाइ कै, जुरे युद्ध में आज ।
गुरुपिता पुत्रहु ससुर, पौत्र पितामह साज ॥ ३३ ॥

इस युद्ध में यह सब प्राण और धन की आशा को त्याग करके मरने को खड़े हैं । हे मधुसूदन ! यदि आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह ॥ ३३ ॥

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥ ३४ ॥

दोहा—मातुल साले बन्धु औ, जुरे यहाँ सब आज ।
मोको ये मारैं यदपि, हौं नहिं हनौं अकाज ॥ ३४ ॥

मामा, श्वसुर, पौत्र, साले और सम्बन्धी यह सब मुझको मारें तो भी हे कृष्ण ! मैं इन्हें मारने की इच्छा नहीं करता हूँ ॥ ३४ ॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥ ३५ ॥

दोहा—का पृथ्वी को राज बरु, त्रैलोकी को राज ।
कौरवपति सुत मारिके, खुशी कौन हरि आज ॥ ३५ ॥

हे जनार्दन ! मैं इन्हें त्रैलोक्य के राज्य के लिये तो मार ही नहीं सकता हूँ तो फिर पृथ्वी के राज्य के लिये क्या मारूँगा, कारण कि धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर मुझे क्या प्रसन्नता होगी ॥ ३५ ॥

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

दोहा—पाप होय इनके हने, यदपि लिये हथियार ।
तातें ये हनिये नहीं कौरव, यह निरधार ॥ ३६ ॥

इन आतइयों को मारने से मुझको पापही मिलेगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

दोहा—निजबान्धव धृतराष्ट्रसुत, क्यों हनिये जदुराय ।
माधव स्वजनहि मारिकै, सुख लहियत का भाय ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिये हम योग्य नहीं हैं । हे माधव ! स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

दोहा—एउ लुभाने लोभ सों, नहिं देखत चित मोह ।
कुलछय कीन्हें दोष है, और मित्र को द्रोह ॥ ३८ ॥

यद्यपि यह लोग लोभवश कुलक्षयकृत दोष और मित्र-द्रोहकृत दोष को नहीं देखते ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

दोहा—जानि बूझि अघ कीजिये, होत पाप का दोष ।
क्यों न हटैं हम देखिके, कृष्ण कुलक्षय दोष ॥ ३९ ॥

हे जनार्दन ! कुलक्षय के दोषों को जाननेवाले हमको इस पातक से निवृत्ति होना कैसे नहीं जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

दोहा—कुलछय कीन्हें कुलधरम, जात सबै नसि भाय ।
धर्म नसै कुल को जबै, होत अधर्म प्रभाय ॥ ४० ॥

कुलक्षय के होने से सनातन कुलधर्म का नाश हो जाता है, धर्म के नाश होने से अधर्म छा जाता है ॥ ४० ॥

अधर्माऽभिभवात्कृष्ण प्रदुःष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

दोहा—कृष्ण अधर्महि के बढ़े, दुष्ट होहिं कुलनारि ।
होहिं वर्णसङ्कर तबै, त्रिया दोष निरधारि ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! अधर्म के दोष से कुलस्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं और उनसे वर्णसङ्कर सन्तान उत्पन्न होती हैं ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

दोहा—नरक परे संकर भये, कुलघाती ते होयँ ।
पतित होंहिं तिनके पितर, पिण्ड न देवै कोय ॥ ४२ ॥

वह वर्णसंकर कुलक्षय करनेवाले को और उसके कुल को नरक पहुँचाता है क्योंकि पिण्ड और तर्पण के लुप्त होने से पितर नरक में पड़ते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

दोहा—कुलघातिन के दोष वश, कुल संकर होइ जाय ।
जातिधर्म कुलधर्म सब, शाश्वत जाहिं बिलाय ॥ ४३ ॥

वर्णसङ्कर करनेवाले के इन दोषों से कुलीन पुरुष के जाति-धर्म और कुल-धर्म निःसन्देह नष्ट होते हैं ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

दोहा—नाश भये कुलधर्म के, निश्चय ते ये होय ।
सदा नरक में कुल परे, कहत जु यों सब कोय ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! मैंने सुना है कि कुलधर्म के नष्ट होनेवाले मनुष्यों को निश्चय नरक में वास करना होता है ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

दोहा—बड़े पाप के काम का, हम सब कियो विचार ।
राज्य सुखनि के लोभवश, हनत कुटुम निरधार ॥ ४५ ॥

अहो ! हम बड़ा पाप करने को उद्यत हैं, जो राज्य-सुख के लिये स्वजनों को मारने का उद्योग कर रहे हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्राः रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

दोहा-करमें ले हथियार ये, हौं पुनि शस्त्र दुराय ।
मोहिं हनैं जो सहजमन, मानि लेहुँ सुखभाय ॥४६॥

शस्त्र लिये धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि रण में निःशस्त्र मुझे मारें तो मेरा बहुत ही कुशल होवे ॥ ४६ ॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

दोहा-ऐसे कहि अर्जुन तबै, बैठि गयो रथ माहिं ।
करते डारे शर धनुष, बढ़्यो शोक मन माहिं ॥ ४७ ॥

यह कह अर्जुन तत्काल धनुष बाण छोड़ कर शोक ग्रसित हृदय से रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ गये ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

सञ्जय उवाच-

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

दोहा-लै उसास अँसुआ भरे, अर्जुन करुणा आय ।
अति विषादयुत देखि तब, बोले श्रीयदुराय ॥ १ ॥

श्रीसञ्जय बोले कि इस भाँति अत्यन्त दयायुक्त आँसुओं से पूर्ण नेत्रवाले अर्जुन से श्रीकृष्णचन्द्रजी बोले ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

दोहा-अर्जुन यहि बड़ युद्ध तोहिं, दुख कत आयो मीत ।
जाकी रति स्वर्गहिं हरै, कायर ज्यों किय भीत ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! अनार्य जनों से सेवित कीर्तिनाशक स्वर्ग न पहुँचानेवाला महामोहरूपी दुःख ऐसी अवस्था में तुमको कहाँ से प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

दोहा-कायरता तुम मत करौ, यह तुम्हरे नहिं योग ।
छाँड़ि कचाई हृदय उठु, दे शत्रुन को रोग ॥ ३ ॥

हे पार्थ ! यह कायरता आप के योग्य नहीं है, आप इस हृदय की कमजोरी को त्याग कर युद्ध के लिये खड़े होवैं ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

दोहा—पूजनीय सब भाँति हरि, हैं भीषम अरु द्रोन।
पूजौं कै बाणनि हनौं, मोसों कहिये तौन ॥ ४ ॥

हे मधुसूदन ! मैं पूज्य भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य से युद्ध में बाणप्रहार द्वारा कैसे युद्ध करूँगा ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

दोहा—भीख भाँगि वरु खाय इह, गुरु हनिबौ अतिपाप।
धन गाहक गुरुजन हनिय, भषों सुलोहू आप ॥ ५ ॥

इस संसार में गुरुजनों को न मार कर भिक्षा माँग कर खाना अच्छा है, किन्तु अर्थ काम के लिये गुरुओं को मार कर रुधिर लिप्त भोग को भोगूँ यह अच्छा नहीं है ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

दोहा—नहिं जानौ भल कौन है, की हरिबो कै जीत।
जिनहिं मारि हम नहिं जियें, ते ठाढ़े सब मीत ॥ ६ ॥

इस संग्राम में हम नहीं जानते हैं कि कौन दल जीतेगा, दूसरे जिनको मारकर हम नहीं जीना चाहते हैं वेही धृतराष्ट्र के पुत्र सन्मुख खड़े हैं तो इनको मारकर जय मिला तो भी क्या ? वह निष्फल है ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

दोहा—धर्म माँझि हौं मूढ हौं, शिष्य बनू तव धाय !
दीन तुम्हारी शरण हौं, दीजे श्रेय बताय ॥ ७ ॥

गुरुजनों को मारकर जीवन पाना ऐसी चिन्ता और कुलक्षयकृत दोष इन दोनों कारणों से मेरे शौर्यादि गुण नष्ट हो गये हैं, जो कि रण छोड़कर भीख माँगकर कष्ट से जीवन व्यतीत करना यह क्षत्रियधर्म से बाहर है इस भाँति अनेक सन्देहयुक्त धर्मसङ्कट में पड़ा मैं आप के शरण हूँ। शिष्य जानकर जो उचित होवे सो कहिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

दोहा—नहिं देखौं कोउ जीव अस, जो मो शोक छुड़ाय ।
सूख गई इन्द्री सकल, सुनिये हे यदुराय ॥
भूमिलोक सुरलोक को, लहौं अकण्टक राज ।
यदपि तदपि अस जानिये, जाइ न शोक समाज ॥ ८ ॥

मैं पृथ्वी में निष्कण्टक राज्य को प्राप्त होऊँ और देवताओं का अधिपति भी होऊँ, परन्तु इन्द्रियों को सुखानेवाले शोक को जो दूर कर देता है उस उपाय को मैं नहीं देखता हूँ ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच-

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

दोहा-ऐसे कहि श्रीकृष्ण सों, अर्जुन ताही बार ।
युद्ध नहीं गोविन्द करौं, चुप भो यह निर्धार ॥ ६ ॥

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे परंतप ! अर्जुन ने शोक कर इस तरह गिरकर कहा कि "मैं युद्ध न करूँगा" यह कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

दोहा-दोऊ सेना मध्य इमि, परखिय पार्थ विषाद ।
कृपायुक्त ह्वै कृष्णजू, कीनों वचन प्रसाद ॥ १० ॥

हे भारत दोनों सेनाओं के मध्य में शोकयुक्त अर्जुन से श्रीकृष्णचन्द्रजी हँसते हुये यह वचन बोले ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच-

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

दोहा-तूँ अशोच्य को शोक करि, कहत धीर सम बात ।
जियन मरन दोउ व्यर्थ हैं, बुधजन नहिं पछतात ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! यह तुम्हारा कहना पण्डितों के तुल्य है, परन्तु तुम पण्डित नहीं हो क्योंकि पण्डितजन नाशवान् शरीर को जानकर कभी भी शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्याम सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

दोहा—हम तुम अरु नरपति जिते, नाशवन्त नहिं कोइ ।
तिहूं काल में स्थिर रह्यो, ऐसे सबको जोइ ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! हम तुम और यह वीर लोग इस शरीर के पहले भी रहे हैं और अब भी विद्यमान हैं और इस शरीर के नष्ट होने के बाद फिर भी होवेंगे । अब इससे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरांश है, शरीर नष्ट होने पर भी जीव का नाश नहीं होता है ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

दोहा—बाल युवा अरु वृद्धता, देहि देह ज्यों होय ।
तैसे देहान्तर लहै, धीर न मोहित कोय ॥ १३ ॥

जैसे इस देह में कुमार, युवा, और वृद्ध ये तीन अवस्थाएँ होती हैं ऐसे ही दूसरी देह प्राप्त होगी इससे पण्डित जन मोह नहीं करते हैं ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

दोहा—इन्द्रिय अरुचितपार्थमिलि, सुखदुख विषय जु देत ।
आय जाय नहिं थिर रहैं, सहत नाइन की लेत ॥ १४ ॥

हे भारत ! शब्दादि विषय शीत उष्ण आदि सुखों को देनेवाले हैं, सो इनको अनित्य जानकर सभी को सहन करो ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

दोहा—इनसों व्यथा न होय जेहि, सुखदुख गिनै समान ।
तेइ धीर लखि मुक्ति सुख, बात कहौं परमान ॥ १५ ॥

हे पुरुषर्षभ ! जो पुरुष सुख और दुःख को समान जानता है, उसे यह पदार्थ क्लेश नहीं देते हैं । वह मोक्ष को अवश्य प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

दोहा—जो सत वह विनशै नहीं, जो असत्य सो नाहिं ।
इन दोनों का तत्त्व भल, प्रगटे ज्ञानिन माहिं ॥ १६ ॥

जो नाशवान् शीत, उष्ण, शरीर आदि है वह स्थिर नहीं है, जो अविनाशी आत्मादिक है, उसका नाश भी नहीं होता, इसका सिद्धान्त पण्डितों ने भी भली भाँति करके देखा है ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

दोहा—व्यापक जो सब जगत को, तेहि अविनाशी जानि ।
सक न नाश करि जासु कोइ, ताहि आतमा मानि ॥ १७ ॥

जिस करके यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उसको अविनाशी जानो, कारण कि कोई पुरुष इस नाशरहित आत्मा का विनाश नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

दोहा—अन्तवन्त सब देह हैं, जीव रहत है नित्त ।
अविनाशी यह पुरुष है, युद्ध करौ तुम मित्त ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! आत्मा नित्य सदैव एकरूप और अविनाशी है, जिसका नाश नहीं है, इसी से यह देहादिक विनाशी कहे गये हैं । इस कारण मोह को छोड़कर युद्ध करो ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

दोहा—जो याको हन्ता गनै, हन्यो गनै पुनि जोय ।
मरै न यह मारै नहीं, वे अज्ञानी दोय ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है और जो इसको मर गया समझता है, वे दोनों ही यह नहीं जानते कि यह आत्मा न किसी को मारे न किसी के द्वारा मरे, इसमें वह दोनों ही अज्ञानी हैं ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

दोहा—यह न मरै उपजै कभी, भयो न पुनि यह होइ ।
अजर पुरातन नित्य है, मरै न मारै सोइ ॥ २० ॥

यह आत्मा न कभी पैदा होता है, न कभी मरता है और न उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त होता है, न स्वभाव से वृद्धि को प्राप्त होता है । इस कारण अज और नित्य जिसकी उत्पत्ति

नहीं और सदैव एकरस सनातन है, । यह शरीर नष्ट होने पर भी आप नष्ट नहीं होता, इसको षट् भाव विकार से रहित जानो ॥ २० ॥

वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

दोहा—जो जाने यह आत्मा, अज अविनाशी नित्त ।
सो नर मारे कौन को, हनै ताहि को मित्त ॥ २१ ॥

जो पुरुष इस आत्मा को नित्य, एकरूप होने से माया रहित और अव्यय होने से जन्म रहित जानता है, हे अर्जुन! वह पुरुष कैसे किसी को मरवाता है और मारता है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

दोहा—जैसे जीरन वस्त्र तजि, पहिरत मनुज नवीन ।
देह जीर्ण तजि जीव तिमि, गई धरत परवीन ॥ २२ ॥

जिस भाँति संसार में मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं, इसी भाँति आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में जाता है। इस कारण प्राचीन शरीर छोड़ने में शोक करना व्यर्थ है ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

दोहा—यह न कटत है शस्त्र सों, सकै न पावक जारि ।
भीज सकै जल माहिं सो, सोखै यहि न बयारि ॥२३॥

इस आत्मा को शस्त्रादि छेदन कर नहीं सकते, अग्नि इस आत्मा को जला नहीं सकता, जल इस आत्मा को भिगो नहीं सकता और वायु इस आत्मा को सुखा नहीं सकता है॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४॥

दोहा-कटै जरै सूखै नहीं, और न भीजन योग।
नित्य अचल व्यापक सुथिर, अविनाशी बिन रोग ॥२४॥

यह आत्मा निरूप होने से गलने व सुखने के योग्य नहीं है, यह आत्मा नित्य अर्थात् त्रिकाल बाह्य जगत में व्याप्त, स्थिर और सनातन है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

दोहा-नहि प्रत्यक्ष अचिन्त्य औ, अविकारी तू जानि।
यो को ऐसे जानिकै, शोक लेहु जनि मानि ॥ २५ ॥

यह आत्मा नेत्रादि ज्ञान की इन्द्रियों से अग्राह्य है और चिन्ता के योग्य भी नहीं है, इन्द्रियों द्वारा अगोचर है, यह तत्त्ववादी ऋषि लोग कहते हैं। इस कारण उस भाँति आत्मा को जानकर तुमको सोच करना उचित नहीं है॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

दोहा-जो तुम जानो जीव को, जन्म मरण नित होइ।
तऊ शोक तू मति करै, मन दृढ़ता में होइ ॥ २६ ॥

हे अर्जुन! यदि तुम इस आत्मा को बारम्बार जन्म लेनेवाला और मरनेवाला मानो तो भी, हे महाबाहु अर्जुन! इस आत्मा के विषय में तुमको शोक करना योग्य नहीं है॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

दोहा—जो जनमा सो विनसिहै, मरिजन्मै पुनि आइ ।
होनहार नहिं मिट सकत, तहाँ न शोक बढ़ाइ ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! जिसका जन्म है, उसका मरण भी निश्चय है और मरता है, वह अवश्य जन्म लेता है, इस कारण होनहार कार्य के विषय में तुम्हें शोक करना व्यर्थ है ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

दोहा—पहले जाहि न जानिये, पीछे परै न जानि ।
माँझ कछुक जेहि देखिये, वाको शोक न मानि ॥२८॥

हे भारत अर्जुन ! प्रकृति जिस भौतिक देह की आदि और प्रगट है कि वह स्थित उनके मध्य में और प्रधान ही में वह लय भी होता है, तो इस देहोपाधिभूत आत्मा में शोक किस वास्ते करना ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

दोहा—वाको जो देखै कहै, सोई अचरज मोय ।
सुने अचम्भा सों लगैं, यह जान्यो नहिं जोय ॥ २९ ॥

कोई विद्वान् पुरुष इस आत्मा को आश्चर्ययुक्त की भाँति देखते हैं, और इसी न्यायवश कोई २ इसे आश्चर्ययुक्त श्रवण करते हैं और कोई २ इसे सुनकर भी नहीं जानते ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

दोहा-जीव न मारचो जातु है, बसत सबन की देह ।
याते शोक न कीजिये, करि भूतन सों नेह ॥ ३० ॥

हे भारत अर्जुन ! यह आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों की देह में सदैव अवश्य अर्थात् अविनाशी है। इस कारण सम्पूर्ण भूतों के हेतु तुमको शोक करना अनुचित है ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

दोहा-अपनो धर्म विचार पुनि, जनि तू तज संग्राम ।
धर्मयुद्ध ते क्षत्रियहिं और न कछु शुभ काम ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! स्वधर्म का भी विचार करके तुमको दया करना उचित नहीं है, कारण कि क्षत्रियों को स्वधर्म से प्राप्त हुए युद्ध से बढ़कर भला करनेवाला दूसरा कुछ नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

दोहा-अपनी इच्छा ते मिल्यो, खुल्यो स्वर्ग को द्वार ।
भाग्यवन्त क्षत्रीय हैं, लरैं सुरणहिं मझार ॥ ३२ ॥

विना यत्न किये दैवी इच्छा से खुला हुआ स्वर्गद्वार-रूप यह संग्राम तुमको प्राप्त हुआ है। हे अर्जुन ! स्वर्गद्वाररूप संग्राम अत्यन्त भाग्यशाली ही क्षत्रियों को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

दोहा—यही धर्म संग्राम को, जो तू करिहै नाहिं।
तजिकै कीरति धर्मकी, परिहै पापनि माहिं ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन! अब जो तुम स्वधर्म से प्राप्त हुये युद्ध को न करोगे तो अपने स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) और कीर्ति को डुबोकर केवल पाप को ही पावोगे ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

दोहा—तेरो अपयश जगत् में, बोलैंगे सब कोय।
मानवन्त को मान घट, अधिक मरण ते होय ॥ ३४ ॥

उक्त प्रकार के ही तुम्हारे करने पर सब लोग तुम्हारी बड़ी भारी अपकीर्ति का वर्णन करेंगे, परन्तु मानयुक्त पुरुष को तो ऐसी अपकीर्ति मरण से भी अधिक दुःखदायिनी होती है ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

दोहा—अर्जुन भयते रण तज्यो, जग इमि कहिहैं वीर।
तोहिं बहुत करि मानते, तव लघुह्वै हौ धीर ॥ ३५ ॥

और जिन वीरों के तुम प्रथम अत्यन्त मान्य हुये हो वे ही महारथी तुमको डर के मारे युद्ध से भाग कर चले गये मानेंगे। प्रथम सर्वमान्य होकर पीछे उनके ही आगे तुमको तुच्छपन प्राप्त होगा ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥

दोहा—तेरे सब अरि कहहिंगे, बहु अनकहनी बात।
सुनि निन्दित निज शक्ति तोहि, बहुदुखह्वै हैं तात ॥३६॥

तुम्हारे ही शत्रुगण तुम्हारे पराक्रम की निन्दा करके बहुत से निन्दित वचनों को कहेंगे, इससे अधिकतर दुःख क्या होवेगा ?॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७॥

दोहा—युद्ध मरे लहिहौ सरग, जीते पृथ्वीभोग ।
उठि अर्जुन तू युद्ध करि, शत्रु हतौ यह योग ॥ ३७ ॥

हे कौन्तेय अर्जुन ! यदि तुम संग्राम में लड़ते हुए मारे भी जावोगे तो स्वर्ग को प्राप्त होवोगे, और यदि संग्राम में मारोगे तो पृथ्वी का राज्यभोग करोगे, इस कारण दृढ़ निश्चय करके युद्ध के लिये उद्यत हो जावो ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

दोहा—दुखसुखलाभनि हानि औ, जीत हार सम जान ।
युद्धहेत जुरि जाहु इमि, पाप न तिलभर मान ॥ ३८ ॥

सुख दुःख को समान मान कर और इन्हीं के कारण लाभ, हानि, जीत, हार, इन सबों के मध्य समबुद्धि होकर क्षत्रियधर्म-बुद्धिद्वारा युद्ध करने की तैयारी करो, इस तरह करने से तुमको पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३९॥

दोहा—सांख्यबुद्धिमों हौं कहो, कहत योग बुधि तोहि ।
जो बुधिके संयोग ते, कर्मबन्ध नहिं होहिं ॥ ३९ ।

कहे हुए ज्ञानयोग को अब समाप्त करके कर्मयोग बताते

हैं, यह सांख्ययोग में कही हुई बुद्धि तुमसे कह चुके, अब योग-स्थिति कहते हैं, हे अर्जुन ! सुनो, जिन बुद्धि के युक्त होने से तुम कर्मबन्धन को छोड़ोगे ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

दोहा—करै कर्म बिनु कामना, होइ न वाको नाश ।
किये धर्म यह अल्पहू, काटत भवभय पाश ॥ ४० ॥

निष्काम कर्मयोग में आरम्भ किये कर्म को न्यूनाधिक होने पर भी मूल का नाश नहीं है, और दोष भी नहीं है, इस निष्काम कर्म के आरम्भ किये हुए का लवलेश भी संसार के भय का रक्षक होता है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

दोहा—बुद्धि निश्चयवन्त मों, एकै हैं तू जानि ।
जिनके निश्चय नाहि है, तिनकी बहुविध मानि ॥ ४१॥

हे अर्जुन ! परमेश्वर के आराधन में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही होती है और कार्यकर्म में तो कामी पुरुषों की बुद्धियाँ भी अनेक भाँति की अनेक होती हैं ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

दोहा—वेदते होवे स्वर्ग अस, कह अज्ञानी कोइ ।
काम छाँड़िइत कछुक नहिं, तिनमें ज्ञान न होइ ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन ! मूर्खलोग स्वर्ग से बढ़कर दूसरा सुख न कहते हुए वेद के कहे हुए कर्म ही में प्रीति रखते हैं ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

दोहा–स्वर्ग कामना जन्मदा, रह तजु तिनके चित्त ।
लौकिक सुखहित बहुतविधि, करत क्रिया ते नित्त ॥ ४३ ॥

भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति से जिनका चित्त अपहत है, उनको ईश्वरप्राप्ति को निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, कारण कि उनका चित्त भोगादि में सदैव रमता रहता है ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

दोहा–भोग और ऐश्वर्य दोउ, तिन को मन हर लेत ।
निश्चय कारण बुद्धिते, नहिं समाधियों देत ॥४४ ॥

जिन पुरुषों का मन भोग ऐश्वर्य में आसक्त हो जाता है, उनका चित्त एकान्त होने पर भी परमेश्वर के विषय में निश्चयात्मक नहीं होता ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्४५

दोहा–त्रिगुण कर्म कह देव सब, निर्गुण हो तू मित्त ।
सात्त्विक ह्वै सुखदुख सहो, योग क्षेत्र जितचित्त ॥४५ ॥

हे अर्जुन ! वेद त्रिगुणात्मक अर्थात् सकाम है, तुम इस कामनादि के फल की इच्छा को छोड़ निष्काम होकर निर्द्वन्द्व अर्थात् शीतादि के सुख दुःख को समान जान कर धैर्य का आश्रय लेकर और योगक्षेम से रहित होकर बुद्धिमान् होवो ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

दोहा—पूर्ण जलाशय तेसु नर, जिमि ले जल निज इष्ट ।
तिमि कारज भव वेदसों, ले बुध तज अवशिष्ट ॥ ४६ ॥

जो कार्य कूप, बावली इत्यादि से निकलता है, वही बड़े बड़े नदादि से निकलता है, इस कारण विचारवान् ब्राह्मण को सब वेद से जो कर्म [मतलब] निकलता है, वही उसके एकदेश निष्काम वाक्य से भी निकल सकता है ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

दोहा—तू अधिकारी कर्म में, फलसों हेत न लाहु ।
कर्मन के फल छाँड़ि दे, अकरम ढिग मत जाहु ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! तुमको केवल कर्म के करने का अधिकार है उक्त कार्यों के करने से बन्धन के कारण फलों में तुम्हारा अधिकार नहीं है तुम कदापि कर्म के फल की इच्छा न करना और वैसे ही कर्म न करने का भी साहस न करना ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

दोहा—योगी होकर कर्म कर, त्याग सङ्ग को भाय ।
सिद्धि असिद्धि समान गुन, समता योग कहाय ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन ! ऐसे अभिमान को छोड़ कर ज्ञानरूप फल की सिद्धि या असिद्धि को समान जान कर परमेश्वर में एकनिष्ठ होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मों को करो, क्योंकि

हर्ष विषाद में समत्व धारण करने से चित्त के समाधान होने के कारण सत्पुरुष उसको योग कहते हैं ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

दोहा—बुद्धियोगते कर्म बहु, अर्जुन तू लघु जानि ।
होहु शरण तुम बुद्धि की, दीन कामना मानि ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! बुद्धियोग अर्थात् व्यवसायात्म बुद्धि से दूसरा काम्य कर्म बहुत दूर है, इस लिये बुद्धियोग में ईश्वर के मिलने की इच्छा करो, कारण कि फल की इच्छा करनेवाले समस्त दीन होते हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

दोहा—बुद्धियुक्त दोऊ तजत, कहाँ पुण्य कहँ पाप ।
योग कर्म में चतुरता, सोई तू कर आप ॥ ५० ॥

निष्काम कर्म करनेवाला पुरुष ईश्वरेच्छा से इस जगत् में सुकृत तथा दुष्कृत दोनों ही कर्म को त्यागत है, इस लिये तुम निष्काम कर्म करने को प्रवृत्त होवो, कारण कि निष्काम कर्म सब कर्मों से कल्याणप्रद है ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

दोहा—बुद्धियुक्त पण्डित सकल, कर्महिं फलहिं दुराय ।
तासु बन्ध को काटिकै, लहत मुक्तिपद धाय ॥ ५१ ॥

इस हेतु से केवल निष्काम कर्म करनेवाले ज्ञानी लोग कर्मजन्य फल को त्यागकर आत्मज्ञान द्वारा

जन्म बन्धन से मुक्त होकर निरुपद्रव मोक्ष पद को जाते हैं ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

दोहा—तब बुद्धी जब जाइ है, मोहपुञ्ज के पार ।
तब तुम श्रुत श्रोतव्य के, पार जाइहो यार ॥ ५२ ॥

हे अर्जुन ! जिस समय निष्काम कर्म द्वारा आपकी बुद्धि मोह [देहाभिमान] को उल्लङ्घन करेगी उस समय वस्तुमात्र के विषय में और जो श्रवण करोगे उस वस्तुमात्र में आपको वैराग्य प्राप्त होवेगा ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

दोहा—श्रुतविरोधते चलित मति, जब तू वसुथिर होई ।
निश्चल रहै समाधिमों, योगसिद्धि तब जोइ ॥ ५३ ॥

लौकिक और पारमार्थिक फल श्रवण करके भ्रमित हुई आपकी बुद्धि जिस समय आत्मा में निश्चल होकर स्थित होवेगी, उसी समय तुम को तत्त्वज्ञान पैदा होवेगा ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

दोहा—जाकी बुधि निश्चल भई, ताको चिह्न बताउ ।
कैसे बोलत किमि रहत, चलत फिरत केहि भाउ ॥ ५४ ॥

श्रीकृष्ण का उक्त कथन सुनकर अर्जुन ने पूछा कि हे केशव ! आत्मस्वरूप में समाधि लगाकर निश्चल

बुद्धिवाला पुरुष कैसे भाषण करता है ? और कैसे वर्तता है ? और गमन भी कैसे करता है ? सो मुझ से कहिये ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

दोहा—तजि कै सगरी कामना, जो मन उपजी आय ।
अपने में आपहि रहत, सो स्थितप्रज्ञ कहाय ॥ ५५ ॥

अर्जुन के प्रश्नों को सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा कि हे पार्थ ! जब पुरुष मनोगत सम्पूर्ण कामों को छोड़कर अपनी आत्मा ही में मन से सन्तुष्ट होगा तब वह उक्त लक्षणों के द्वारा स्थितप्रज्ञ (आत्मनिष्ठ) कहा जाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दोहा—दुःख देखि भाजे नहीं, सुखचाहै नहिं मित्त ।
तजै नेह अरु क्रोध भय, सो मुनि निश्चलचित्त ॥ ५६ ॥

जिस समय ममता, भय, क्रोध; इनसे रहित होने से दुःख प्राप्त होने पर जिसका चित्त कभी व्याकुल न होवे और सुख की इच्छा भी न करै तो वह मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५७॥

दोहा—नेह न काहू सो करै, सुखकी करे न चाहि।
द्वेष दुःख सों नहिं करे, थिरबुधि गुनियो ताहि ॥ ५७ ॥

जो पुरुष स्त्री पुरुषादि के लिये स्नेहरहित होने के कारण जो जो शुभ प्राप्त होवे, उसके विषे न तो आनन्द मानता है न द्वेष। उसकी ही बुद्धि ब्रह्मनिष्ठ है ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥

दोहा—जिमि कछुआँ निज अङ्ग को, खैंचि आपु में लेइ।
तैसे खैंचों इन्द्रियन, करि निश्चल तेहि होइ ॥ ५८ ॥

जब योगी पुरुष शब्दादि से इन्द्रियों को सब तरफ से खींच लेता है, जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है। उस भाँति कर लेने से योगी की प्रज्ञा [बुद्धि] समाधि में स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ ५९ ॥

दोहा—विषय करत जू दूरिसों, तजवज्जु है आहार।
परमातम लखि जातु हैं, अभिलाषा निरधार ॥ ५९ ॥

जो पुरुष कुछ खाता नहीं उसकी इन्द्रियाँ विषयों से अलग होती हैं, परन्तु उसकी प्रीति आदि की जुदाई नहीं होती और समाधिस्थ पुरुष के रोगादि परमात्मा के दर्शन से अलग नहीं हो जाते हैं ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

दोहा—पण्डित यद्यपि मुक्ति को, सब विधि करिय उपाय ।
तऊ अबल इन्द्रिय जुटी, मनको हरि ले जाँय ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! विचारवान् और प्रयत्न करनेवाले के भी मन को इन्द्रियाँ बल से खींच लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

दोहा—ताते रोके इन्द्रियन, मों में चित्त लगाय ।
बस कीन्हे जिन ये सबै, सो थिर बुद्धी पाय ॥ ६१ ॥

उन सब इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके योगी पुरुष को मैं ही परब्रह्मपरमात्मा हूँ, इस भाँति परमात्मदृष्टि करके सब काल रहना चाहिये। जिस पुरुष कीइन्द्रियाँ वश में रहती हैं, उसकी बुद्धि निश्चय करके निश्चय होती है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते६२

दोहा—ध्यान करत नर विषयको, तासों उपजत संग ।
उपजत संग ते काम है, ताते क्रोध उमंग ॥ ६२ ॥

शब्दादि विषयों को मन में चिन्तन करते हुए पुरुषों की उन विषयों में आसक्ति होती है और उस आसक्ति से उनके संयोग विषय के सुखादि की प्रबल इच्छा पैदा होती है और उस अभिलाषा से काम और काम से क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।६३।

दोहा—मोह होत है क्रोध ते, मोहहि ते स्मृति नास ।
स्मृति बिगरे बुधि नसत है, बुद्धि नसे यम पास ॥६३॥

क्रोध से अत्यन्त मोह (कार्याकार्य विवेक की शून्यता) होता है, उस मोह से स्मृति (गुरु उपदेशित) नास हो, स्मृति नास से बुद्धि (ज्ञान) नास, ज्ञान नष्ट होने से सब भाँति के फल से भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥

दोहा—रागद्वेष को त्यागि कै, इन्द्रिय वश करि लेव ।
तब जो सेवत विषय सों, लहै शान्ति को भेव ॥ ६४ ॥

जो पुरुष मन को अपने वश में रागद्वेषरहित होकर इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करता है, वह पुरुष निःसन्देह शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

दोहा—जबहिं शान्ति यह गहत है, होत दुखन को हानि ।
तबहिं बुद्धि थिर होत है, लीजो तुम यह मानि ॥ ६५ ॥

जब शुद्ध चित्त होने से सब दुःखों का नास होता है तब प्रसन्न चित्त पुरुष की बुद्धि भी शीघ्र स्थिर होती है॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

दोहा—विना योग बुद्धिहु नहीं, विनु बुद्धि होइ न ज्ञान ।
विना ज्ञान शान्ती नहीं, ता विन सुख न सुजान ॥६६॥

हे अर्जुन ! अजितेन्द्रिय पुरुष की बुद्धि शास्त्र और गुरु के उपदेश में और आत्मा के विषय में स्थिर नहीं होती और उस पुरुष को आत्मज्ञान भी नहीं होता और उसकी आत्मा शान्ति को भी नहीं प्राप्त हो, तो उस परम्पराज्ञान के विना उसको ब्रह्मानन्द-सुख की प्राप्ति कहाँ से होवे ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

दोहा-जित जित इन्द्रिय फिरति हैं, तित मन लेवहिं खैंच ।
मन बुद्धिहिं हरि लेत है, नाव वायु ज्यों ऐंच ॥ ६७ ॥

कारण कि विषयों में स्वेच्छापूर्वक आचरण करती हुई इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय मन को अपने वश खींच लेती है। वह एक भी इन्द्रिय उस पुरुष की बुद्धि को [विक्षिप्त] कर देती है। जैसे प्रबल वायु जल में नाव डुबा देती है, या पत्थर की टक्कर से फोड़ डालती है, या इधर-उधर भ्रमण कराती है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

दोहा-जिन इन्द्रिय रोकी सबै, ठौर-ठौर तें आनि ।
विषयत्याग जिनही कियो, थिर बुधि ताही मानि ॥ ६८ ॥

हे महाबाहु अर्जुन ! जिस पुरुष की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो जाती हैं, उसी की बुद्धि आत्मैकनिष्ठ [प्रतिष्ठित] कही जाती है ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

दोहा—आत्मज्ञान जगकी निशा, जगत तहाँ ऋषिराय ।
विषयवासना जगतदिन, सो निशि संयमि भाय ॥ ६९ ॥

हे अर्जुन ! प्राणीमात्र की जो रात्रि है, उन रात्रियों में इन्द्रिय निग्रह करनेवाला योगी जागता रहता है और जिस समय प्राणीमात्र जागते हैं, वह आत्मतत्त्व को देखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ मुनि की रात्रि है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

दोहा—जैसे सजल सरित सबहि, थिर समुद्र मिलि जाय ।
त्यों लह इच्छा रोकि मुनि, शान्तिय कामी पाय ॥७०॥

जैसे सब ओर से भरे हुए समुद्र में जल-प्रवाह समा जाता है और वह अपनी मर्यादा को नहीं त्यागता, उसी भाँति समस्त विषयों से पूर्ण मनुष्य के होने पर भी उनसे वह हर्ष-विषाद को नहीं प्राप्त होता है, वही पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है और विषयों की इच्छा करनेवाला कामी पुरुष मोक्ष को नहीं प्राप्त होगा ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

दोहा—तजिकै सब मनवासना, जो नर निस्पृह होय ।
अहङ्कार ममता तजै, लहै शान्ति शुचि सोय ॥ ७१ ॥

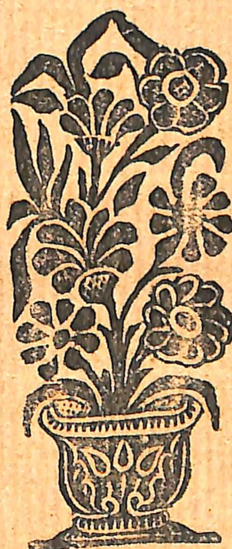
जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़कर इच्छारहित होकर व्यवहार करता है और ममता व अहङ्कार से रहित है, वही पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति।७२।

दोहा–ब्रह्मज्ञान विधये अहैं, जो लहि मोह नसाय।
अन्त समय एहि पर सुथिर, मिले ब्रह्म में जाय ।।७२।।

हे पार्थ! यह ब्रह्म प्राप्त करनेवाली निष्ठा मैंने आप से कही, इसको जो प्राप्त होता है, वह फिर संसार-रूप मोह में नहीं पड़ता, कारण कि जिसे ब्रह्म-स्थिति अन्त समय क्षणमात्र भी रहती है, वह उपाधि-रहित ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥



अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ॥

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

दोहा—ज्ञान भलो है कर्म ते, कृष्ण कहा तुम जोहि ।
कर्म भयानक में कहा, केशव डारत मोहि ॥ १ ॥

श्रीकृष्णचन्द्रजी की बात को सुनकर अर्जुन बोले कि हे जनार्दन ! यदि कर्मयोग से ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ है और आपकी यही आज्ञा भी है ? तो हे केशव ! आप मुझे हिंसात्मक कर्म में क्यों प्रेरणा करते हो ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

दोहा—संशयमिश्रित वाक्य कहि, मोहि भरमावत काह ।
निश्चय करि याको कहौ, श्रेय होइ जेहि माँह ॥ २ ॥

हे श्रीकृष्ण ! आपने मुझसे कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों का श्रेष्ठत्व वर्णन किया, परन्तु ऐसे आप मिश्रित सन्देह उत्पन्न कराते हो, यह मुझे प्रतीत होता है। इसलिए उक्त दोनों से किसी एक का निश्चय करके मेरे प्रति कहिए कि जिसके द्वारा कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त हो जाऊँ ॥२॥

श्रीभगवानुवाच ॥

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

दोहा—जो निष्ठा द्वै भाँति की, पहले कही बनाय ।
सांख्यन को ज्ञानहिं भलो, योगिनकर्म बताय ॥ ३ ॥

उस प्रश्न को सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा कि हे अर्जुन ! अधिकारी जनों के लिये पूर्व अध्याय में मैंने दो प्रकार की निष्ठा कही। सांख्यवाले को ज्ञान और योगवाले को कर्मयोग वर्णन किया है ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

दोहा-कर्म विना कीन्हे पुरुष, ज्ञानहिं लहै न कोय।
ज्ञान विना संयास ते, कबहुँ न मुक्ती होय ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञानोपदेश पर्यन्त विना नित्य नैमित्तिक कर्म के किए पुरुष को मोक्ष कदापि नहीं प्राप्त होता। यदि कर्म को छोड़कर शिखा जनेऊ को त्यागकर संन्यास ही ग्रहण कर लेवे तो मोक्ष-सिद्धि नहीं होती ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

दोहा-कर्म करे विन एक छन, रहे न कोऊ जन्तु।
दिवस होइ कर्मनि करे, बाँधे मायातन्तु ॥ ५ ॥

कोई पुरुष किसी अवस्था में विना कर्म के क्षणमात्र भी ठहर नहीं सकता, कारण कि सब लोग प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले स्वाभाविक रागादि गुणों से परवश होकर कर्म करते ही रहते हैं ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

दोहा—कर्म इन्द्रियन रोकि जो, मनकर विषयन ध्यान।
कपटी मूरख सो अहै, मिथ्याचारी जान॥ ६॥

जो कोई अज्ञानी पुरुष कर्मेन्द्रियों का नियमन करके अन्तःकरण में विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी और पाखण्डी कहा जाता है॥ ६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

दोहा—रोकै इन्द्रिन चित्त सों, कर्म नियम विरचाइ।
फल अभिलाषा को तजै, तातें यह अधिकाइ॥ ७॥

हे अर्जुन! जो कोई पुरुष अन्तःकरणों से इन्द्रियों का नियमन करके स्वयं फल के विषे अनासक्त होकर ईश्वरार्पण बुद्धिद्वारा कर्मेन्द्रियों से स्मार्तादि कर्मों को चित्तशुद्धि के लिये करता है, उस पुरुष को श्रेष्ठ जानना॥ ७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

दोहा—निश्चय कर तू कर्म को, भल अकर्मते मीत।
बिनु कीने कछु कर्मके, देह रहै केहि रीत॥ ८॥

हे अर्जुन! इस कारण तुम अवश्य विधियुक्त सन्ध्योपासनादिक कर्मों को करो, कारण कि बिलकुल कम न करने से कुछ करना श्रेष्ठ है, जो सर्वथा कर्मों का त्याग ही कर दोगे तो तुम्हारे देह की रक्षा भी न होगी॥ ८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

दोहा—विष्णुभक्ति बिनु कर्म जे, जगबन्धन ते होत।
हरिके हित कर्मनि करो, छोड़ि फलन के हेत॥ ९॥

हे कौन्तेय अर्जुन ! ईश्वर के निमित्त कर्म के सिवाय अन्य दूसरे कर्म इस लोक के बन्धनरूप हैं, इस कारण फल को इच्छा को छोड़कर कर्म को अवश्य करो ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

दोहा—यज्ञ सहित रचि जगत् को, कही विधाता बात ।
वृद्धि तुम्हारी यज्ञ ते, कामधेनु यह तात ॥ १० ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी ने समस्त कर्म (श्रुतियों के द्वारा पञ्चमहायज्ञादि नित्य नैमित्तिकादि कर्म) और वर्णाश्रम धर्म-विभाग-पूर्वक सब प्रजा को उत्पन्न करके उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ योगादि कर्म करके वृद्धि पावोगे और इसी से तुमको इष्टफल की प्राप्ति होवेगी ॥ १० ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

दोहा—यज्ञनि करि देवनि भजो, देव तुम्हें फल देहु ।
वृद्धि परस्पर यों करो, मनवाञ्छित फल लेहु ॥ ११ ॥

तुम यज्ञादि कर्म से देवताओं का पूजन कर उनकी वृद्धि करो, तब वे देवता भी वर्षादि से अन्नादि की वृद्धि कर तुम्हारी वृद्धि करें । इस तरह आपस में एक दूसरे की वृद्धि करने से तुम सबका बहुत भला होगा ॥ ११ ॥

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

दोहा—इष्ट भोगकूँ देइहैं, पूजित देवता मित्त ।
विन पूजे तिन जे चखैं, ते हैं चोरन चित्त ॥ १२ ॥

यज्ञों से पूजे हुए देवता तुमको अभीष्ट भोग देंगे। जो कोई इनके दिये भोगों को इनके निमित्त दिये विना भोगेगा वह चोर है ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

दोहा—यज्ञ शेष जो खात हैं, पापन डारत धोइ ।
यज्ञ विना जो खात है, अघहि लहत हैं सोइ ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! जो बलिवैश्वदेवादि पञ्चयज्ञ करके भोजन करते हैं, वे सज्जन गृहस्थियों के पाँच पापों से छूट जाते हैं और जो अपने लिये भोजन बनाकर देवताओं को अर्पण किये विना आपही खा लेते हैं, वे पापी पापों को भोगते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

दोहा—जीव अन्न ते होत हैं, अन्न मेघ ते होय ।
मेघ यज्ञ ते होत हैं, यज्ञ कर्म ते होय ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं अर्थात् जब अन्न पेट में जाता है, तब उसका रस, शुक्र की वृद्धि कर प्राणियों को उत्पन्न करता है अन्न मेघ से होता है, मेघ यज्ञ से होता है और यज्ञ कर्म से होता है ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

दोहा—कर्म जु उपजै वेदतें, वेद ब्रह्म ते मानि ।
ब्रह्म नित्य व्यापक अचल, होहिं यज्ञ करिजानि ॥ १५ ॥

कर्म की उत्पत्ति वेद से होती है और वेद अक्षर जो परब्रह्म है उससे होता है, वह ब्रह्म सबमें व्यापक है, यज्ञ में सदैव रहता है। इससे यज्ञादि कर्म अवश्य ही कर्तव्य हैं ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

दोहा—वेदविहित शुभ कर्म को, जो न करत जन कोय ।
पापी इन्द्रियवश भये, जनम वृथा दे खोय ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से मेघ, मेघसे अन्न, अन्नसे प्राणी और प्राणियों से फिर कर्म की प्रवृति; इस प्रकार ईश्वर के घुमाये हुए चक्र के अनुसार ईश्वराराधन रूप से यज्ञादि कर्म में जो प्रवृत्ति नहीं होते हैं, केवल इन्द्रियों के विषयभोग में लगे रहते हैं उनका जीवन निष्फल है ॥ १६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

दोहा—आतम सों सन्तुष्ट जे, आतम सों रति होय ।
तृप्ति जु आतम सों रहैं, ताहि न करनो कोय ॥ १७ ॥

हे अर्जुन! जिसकी आत्मा ही में प्रीति है और जिसकी आत्मा ही में तृप्ति है और जो आत्मा ही में सन्तुष्ट है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुषों को किसी कर्म के करने की आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

दोहा—कर्म्म किये जेहि पुण्य नहिं, बिनु कीन्हें नहिं पाप ।
ब्रह्मादिक चर अचर सों, रखि न प्रयोजन थाप ॥ १८ ॥

ऐसे ज्ञानी पुरुष को यज्ञादि करने से कुछ पुण्य नहीं है और यज्ञादि कर्म न करने से पाप भी नहीं है। क्योंकि निरहङ्कार ज्ञानों को विधि निषेध से कुछ सबन्ध नहीं और न ज्ञानी को किसी प्राणी का आश्रय लेने की आवश्यकता होती है ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

दोहा—याते तजि फल वासना, करहु कर्म तुम नित्त।
सङ्ग विना करि कर्म नर, मुक्ति कहत हैं मित्त ॥ १९ ॥

इससे हे अर्जुन! फल की इच्छाको छोड़ कर नित्य नैमित्तिक कर्मों को निरन्तर करे। जो फल की अभिलाषा छोड़ कर्म करते हैं, उन्हें अवश्य मोक्षपद प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

दोहा—सिद्धि लही जनकादिहूँ, करिकै कर्म समाज।
तुम्हैं देखि औरउ करे, याते करो सुकाज ॥ २० ॥

जनकादिक जो ज्ञानी हो गये हैं, उनको भी कर्म करने ही से सिद्धि मिली थी। इससे जो तू बड़ा ज्ञानी है, तो भी लोक संग्रह अर्थात् लोगों से शुभ करवाने के लिये तुझको कर्म करना उचित है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञानी कर्म न करे, तो उनकी देखादेखी अज्ञानी भी कर्म को त्याग देवेंगे, इससे लोकमर्यादा भ्रष्ट हो जावेगी ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

दोहा—श्रेष्ठ पुरुष के आचरन, औरन को परमान।
ते मानहिं जेहि बात की, लोकहु ताही मान ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! श्रेष्ठ जन नित कर्म को करते हैं, उनकी देखा देखी उन्हीं कर्मों को साधारण लोग भी किया करते हैं, और जिन बातों का वे प्रमाण मानते हैं और लोग भी उसके अनुरागी हो जाते हैं अर्थात् मानते हैं ॥ २१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

दोहा—मोंको कछु करिवो नहीं, तीन लोक में काज।
कुछ अलभ्य लभ्यहु नहीं, कर्म करत तउ साज ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! तू मुझे देख, तीनों लोक में मुझे कुछ कर्तव्य नहीं है, न कोई वस्तु अलभ्य है, न किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा है, तो भी कर्म किया ही करता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

दोहा—आलस तजि जो ना करूँ, हमहूँ कर्म निमित्त।
मो पीछे लगि लोक सब, तजिहैं कर्म पुनीत ॥ २३ ॥

हे पार्थ ! जो मैं ही आलस्य छोड़कर कर्म करने में प्रवृत्त न होऊँ तो वे मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलेंगे अर्थात् कर्म करना छोड़ देंगे ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

दोहा—जो हौं कर्मनि नहिं करौं, होइ लोक को नास।
करहु वर्णसङ्कर जगत, हनो प्रजा यह त्रास ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! जो मैं कर्म न करूँ तो कर्मलोप हो जाने से धर्म नष्ट हो जावे और उससे सब लोक नष्ट हो जावें और सृष्टि वर्णसङ्कर होने लगे, तो इस वर्णसङ्कर का कर्ता मैं ही होऊँगा और इस प्रजा का नाशकर्ता भी मैं ही होऊँगा ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

दोहा—फल इच्छा ते करत हैं, मूर्ख कर्म जिमिभाइ ।
लोक काज ज्ञानी करैं, ममतासों न लगाइ ॥ २५ ॥

हे भारत ! जैसे अज्ञानी लोग विषयात्मक होकर कर्म करते हैं, वैसे ही लोक को शिक्षा देने के निमित्त विद्वान् कर्म में आसक्त न होकर कर्म करें ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

दोहा—मति न बिगारै अज्ञ की, जे कर्मनि रत आहि ।
ज्ञानी कर्मनि आपु करि, तिनहूँ सों करवाहिं ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जो अज्ञानी कर्म करने में आसक्त हैं, उनको कर्म न करने का उपदेश देकर उनकी बुद्धि न बिगाड़ें, किन्तु विद्वान् आप भी सावधान होकर कर्म करे और उनसे भी कर्म करावे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

दोहा—माया की गुण इन्द्रियाँ, ये सब करती कर्म ।
अहङ्कार ते मूढ़ जन, तेहि मानत निज धर्म ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! प्रकृति की गुण इन्द्रियाँ यही सम्पूर्ण कार्य करती हैं, परन्तु अहङ्कार से विमूढ बुद्धिवाले अपने को इन सब बातों का करनेवाला मानते हैं ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

दोहा—ज्ञानी आतमा ते पृथक, गुण औ कर्मनि जोय ।
इन्द्री विषयन मो फँसी, जानि असंगी होय ॥ २८ ॥

और हे महाबाहो ! गुण और कर्म के विभागों के तत्त्व को जाननेवाला यही मानता है कि सत्त्व, रज और तम गुण अपने अपने कार्यों में लगे हैं, इससे उनमें आसक्त नहीं होता है ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् २९

दोहा—माया गुण करि मूढ़ जे, रहें विषय लव लाय ।
तेहि मग ते ज्ञानी तिन्हें, देइ न कबहुँ चलाय ॥ २९ ॥

माया के सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों में जो मनुष्य अत्यन्त मोहित हो रहे हैं, वेही इन्द्रिय के कामों में आसक्त होते हैं । उन अल्पज्ञ मन्द पुरुषों को ज्ञानी मनुष्य कर्म-मार्ग से न हटावे ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः ॥३०॥

दोहा—अध्यतम मो राखि मन, कर्म समर्पै मोहिं ।
आशा ममता त्यागि कै, युद्ध करो सुख होहिं ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! आत्मा में मन लगाय सम्पूर्ण कार्यों को मुझे समर्पण कर, फल की आशा और ममता को छोड़ सुख से युद्ध करो ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

दोहा—श्रद्धा रखि मो मत निजे, नित्य करहिं स्वीकार ।
कर्म करहिं निन्दहिं न तिन, ते उतरहिं भवपार ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य श्रद्धालु होय और मेरे वाक्य की निन्दा न करके इस मेरे मत से नित्य कर्म करने में प्रवृत्त हो जाते हैं, वे भी इन कर्मबन्धनों से छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

दोहा—जो निन्दहिं मत मोर यह, कर्म करत नहिं भाय ।
ते अविवेकी भ्रमनि पड़, आपु नष्ट होइ जाय ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं और निन्दा करते हैं, उनको सब ज्ञान से शून्य नष्ट तथा अविचारी समझो ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

दोहा—ज्ञानवानहूँ करत हैं, निज प्रकृती अनुसार ।
इन्द्री निग्रह काइ करु, प्रकृती वश संसार ॥ ३३ ॥

ज्ञानी भी अपने स्वभाव ही के अनुसार काम करता है, फिर अज्ञानी अपनी प्रकृति के अनुसार काम करे तो आश्चर्य

क्या ? जब सम्पूर्ण प्राणी अपनी बलवती प्रकृति के वश में हैं, तब इन्द्रियों का निग्रह क्या कर सकता है ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

दोहा-इन्द्रय को निज विषय में, राग द्वेष बड़ होइ ।
तिनके वश नर जाय नहिं, दोऊ अरिसम होइ ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! प्रत्येक इन्द्रियों का अपने २ विषय में राग द्वेष है, इस राग द्वेष के वशीभूत होना उचित नहीं है, ये दोनों मोक्ष के शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

दोहा-ऊन होय निज धरम वरु, परतें अधिकै मानि ।
मरिबो भल निज धर्म में, परधर्महिं भय जानि ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! अच्छी तरह जाने हुए भी परधर्म से अपना धर्म गुण रहित होने पर भी श्रेष्ठ है, किन्तु परधर्म भयाकन है। अतएव हिंसारूप होने पर भी तू अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन कर । इससे तुझे स्वर्ग प्राप्त होवेगा और इसके त्यागने से नरक होवेगा ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

दोहा-विनु इच्छा केहू करत, कृष्ण मनुज कस पाप ।
प्रेरित बल सों जस करत, तत्त्व कहौ यह आप ॥ ३६ ॥

अर्जुन ने कहा हे वृष्णिवंशी कृष्ण ! पापकर्म करने की इच्छा न रहने पर भी, जैसे कोई बलपूर्वक कराता हो, वैसे

मनुष्य पाप करने में प्रवृत्त हो जाता है। हे कृष्ण ! इस पाप-कर्म में प्रवृत्ति करानेवाला कौन है ? ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

दोहा—काम विफल होइ क्रोध पुनि, रज गुण ते यह होइ ।
अतिभोगी पापी प्रबल, शत्रु जु प्रेरक सोइ ॥ ३७ ॥

श्रीभगवान् बोले कि हे अर्जुन ! यह काम ही है, जो किसी प्रकार से निष्फल होने पर क्रोध में परिणत हो जाता है। क्रोध की उत्पत्ति रजोगुण से है, यह काम बड़ा खाने-वाला अर्थात् अनेक प्रकार के भोगों को भोगने से भी सन्तुष्ट नहीं होता है और पापी है, इसे मनुष्यों का परम शत्रु समझो ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

दोहा—अग्नि ढपै ज्यों धूप सों, दर्पण मल से छाइ ।
गर्भ जरायू सो ढपै, तिमि बुधिया सो भाइ ॥ ३८ ॥

जैसे अग्नि धुयें से, दर्पण मल से और गर्भ जरायु अर्थात् गर्भ के थैले से आवृत रहता है, वैसेही यह ज्ञान भी काम से ढका रहता है ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

दोहा—ज्ञानी हूँ के ज्ञान इन, वैरी ढाँप्यो धाइ ।
काम दुसह यह अग्नि है, सकै न कोउ भराइ ॥ ३९ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! यह मनुष्य का सदा वैरी है, भोगों से कभी नहीं तृप्त होता है, जैसे अग्नि इन्धन मिलने से बढ़ती है, वैसेही इसे जितनी भोग्य वस्तु मिलती हैं, उतना ही यह बढ़ता जाता है और भोग्य पदार्थों के अभाव में अग्नि की भाँति धधकता है। इस काम ने ज्ञानियों के ज्ञान को भी ढाँक दिया है ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

दोहा-इन्द्रो मन अरु बुद्धि है, येई याके थान ।
इन करि कैसो मोहियत, ज्ञानीहूँ को ज्ञान ॥ ४० ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि; ये काम के उत्पत्तिस्थान हैं। काम इन्हीं के द्वारा ज्ञानको ढाँककर आत्मा में मोह उत्पन्नकरता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

दोहा-अर्जुन ताते प्रथम तू, सब इन्द्रिन को रोकि ।
हरत ज्ञान विज्ञान को, पापी लखि इन ठोकि ॥ ४१ ॥

हे भरतकुलोत्पन्न ! इससे तू प्रथम इन्द्रिय, मन और बुद्धि को रोककर इस काम को वश में करो। क्योंकि यह बड़ा पापी है, यह आत्मज्ञान तथा शास्त्रज्ञान दोनों को नष्ट कर देता है ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

दोहा- देह ते इन्द्रिय है परे, तिन ते पर मन जोय ।
मन ते परे सुबुद्धि है, ताते आतम होय ॥ ४२ ॥

शरीर से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धि से भी श्रेष्ठ है वही आत्मा है॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

दोहा—आतमहिं बुद्धि सों श्रेष्ठ लखि, मन को करि बस माहिं ।
कामरूप अरि दुसह तउ, जीति लेहु तुम याहि ॥ ४३ ॥

हे महाबाहो अर्जुन ! इस भांति आत्मा को बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर मन को निश्चल रूप से वश में लाकर महा अजेय कामरूप शत्रु का मर्दन करो ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्म-
योगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥



अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

दोहा—याहि योग को हम कह्यो, प्रथम सूर्य सों आइ ।
उन निज सुत मनु सों कह्यो, मनु इक्ष्वाकु सुनाइ ॥१॥

श्रीभगवान् कहने लगे, हे अर्जुन ! इस कर्मयोग को प्रथम मैंने सूर्य को सुनाया था, सूर्य ने मनु से कहा था और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा था ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

दोहा—परंपरा यहि योग की, जानत है ऋषिराय ।
बहुतःसमय बीते गयो, सो यह योग नसाय ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! इसी भाँति परम्परा से चले आए अर्थात् एक से दूसरे ने सुना, दूसरे से तीसरे ने सुना, ऐसे इस योग को राजर्षि जानते थे । हे परन्तप ! यही योग फिर बहुत काल बीतने पर नष्ट हो गया ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

दोहा—वहै पुरातन योग को, तत्त्व तोहिं हौं दीन्ह ।
तू मेरो बड़ मित्र अरु, भक्त परम अस चीन्ह ॥ ३ ॥

वही प्राचीन योग आज मैंने तुझे सुनाया, तू परम भक्त और सखा भी है, इसलिये यह उत्तम गुप्त भेद तुझे सुनाया ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

दोहा—प्रगटे हो तुम तो अबै, सूर्य सनातन देव ।
तुम कब तासों यह कह्यो, कस जानूं यह भेव ॥ ४ ॥

अर्जुन ने पूँछा कि, हे कृष्ण! तुम्हारा जन्म पीछे हुआ है और सूर्य का जन्म पहले हुआ है । फिर यह कैसे मान सकते हैं कि आपने यह कर्मयोग सूर्य को सुनाया था ॥४॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

दोहा—मेरे अरु तेरे जनम, बीते हैं बहु बार ।
तिनको तू जानत नहीं, जानत हौं निरधार ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो गये हैं, उन सब जन्मों का वृत्तान्त मैं जानता हूँ और तू नहीं जानता है ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

दोहा—अज अविनाशी जदपि हौं, जीव ईश निरधार ।
निज माया अरु प्रकृति सों, तऊ लेहुँ अवतार ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! यद्यपि मैं अविनाशी, अजन्मा और प्राणियों का ईश्वर हूँ; तो भी अपनी सात्त्विक प्रकृति अवलम्बन कर अपनी माया से अवतार लेता हूँ ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

दोहा—जब जब अर्जुन जगत में, घटत धरम है भाय ।
जहँ तहँ बढ़त अधर्म अति, तब जनमत मैं आय ॥ ७ ॥

हे भरत ! जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं अवतार धारण करता हूँ ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

दोहा—साधुन की रक्षा करौं, पापिन को संहार ।
थापनहेत सुधर्म हौं, युग युग धरि अवतार ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! साधुओं की रक्षा के लिए, पापियों के नाश के लिये और धर्म की स्थापना के लिये मैं युग २ में अवतार लेता हूँ ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

दोहा—दिव्य जन्म अरु कर्म को, तत्त्व लहै मो जोय !
देह त्यागि मोंको मिलै, बहुरि न जनमै सोय ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! इस भाँति जो मेरे इस लौकिक जन्म कर्मों के तत्त्वों को जान लेते हैं, वे इस देह को छोड़ फिर जन्म नहीं लेते हैं और मुझमें मिल जाते हैं ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधाः मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

दोहा—राग क्रोध भय त्यागि कै, मोर आसरा पाय।
सुजन बहुत करि ज्ञान तप, मोहमो गये समाय ॥ १० ॥

बहुतसे लोग राग, भय और क्रोध को त्यागकर तथा मेरे आश्रय पर ज्ञान और तपस्या से पवित्र होकर मुझमें मिल गये हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

दोहा—जो मोको जैसे भजे, हौं तैसो फल देत।
अर्जुन नर या जगत मम, सेवा पथगहि लेत ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जो मुझे सकाम वा निष्काम जैसे भजता है मैं भी उसे वैसाही फल देता हूँ अर्थात् कामी की कामना पूर्ण करता हूँ और विरागी को मोक्ष देता हूँ। ये सब मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं अर्थात् ये चाहे जिसकी सेवा करें वह मेरी ही सेवा है ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

दोहा—कर्मसिद्धि की चाह करि, देवन पूजत जोइ।
कर्मन की नरलोक में, वेगि हिं सिद्धो होइ ॥ १२ ॥

मनुष्यलोक में कर्म की सिद्धि शीघ्र होती है और मुक्ति कठिनता से मिलती है। इससे संसार में जो कर्म की सिद्धि को चाहते हैं, वे इन्द्रादि देवताओं की उपासना करते हैं ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

दोहा—ब्राह्मणादि चारों वरन, गुण कर्मन बिलगाय ।
रचे जदपि करतार मोहिं, तू मत समुझिय भाय ॥१३॥

मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपने-अपने गुण और कर्म से बनाये हैं, इनका कर्ता मैं ही हूँ; तो भी मुझे अकर्ता और अविनाशी समझो ॥ १३ ॥

न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्धयते॥१४॥

दोहा—मोको कर्म न लगतु हैं, मोहिं न फल की चाहि ।
जानत मोको जोइ अस, कर्मबंध तेहि नाहि ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! कर्म मुझको लिप्त नहीं होते हैं और न कर्मफल में मेरी इच्छा है, मैं पूर्णकाम हूँ; जो मुझको ऐसा जानते हैं, वे कर्म से नहीं बँधते ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

दोहा—जो चाहत हैं मुक्ति को, करैं कर्म तिन आइ ।
ताते तू हूँ कर्म करि, पहिलन को नत पाइ ॥ १५ ॥

इसी बात को समझ कर प्राचीन जनकादिक मुमुक्षु जनों ने भी कर्म किया था, इससे अब तू भी वही कर्म कर, जो पूर्व पुरुषों ने बहुत पहले किया था ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६

दोहा—कर्म अकर्म विवेक में, पंडितःहू भरमाय ।
कहौं कर्म जिन जानत, मुक्ति जगत से पाय ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ? कौन कर्म कर्त्तव्य है और कौन कर्म अकर्तव्य है, इस विचार में बड़े२ पण्डितों की बुद्धि भी

चकरा जाती है। उसी कर्म का वर्णन मैं तुमसे करूँगा, जिसे जानकर तू संसार के बन्धनों से छूट जावेगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

दोहा—जान्यो चहिये कर्म हूं, और विकर्म हूँ धाइ ।
जानि अकर्महु कीजिये, गहन कर्मगति भाइ ॥ १७ ॥

विहित, निषिद्ध और त्याज्य इन तीनों प्रकार के कर्मों का विचार करना, इनमें तत्त्वों को जानना बहुत आवश्यकीय है, क्योंकि कर्मों की गति बड़ी कठिन है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

दोहा—कर्महिं जानि अकर्म जो, तिमि अकर्म जनु कर्म ।
बुद्धिमान् सो योग नर, कीन्ह तबै तिन धर्म ॥ १८ ॥

जो कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म समझता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भा कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

दोहा—जो सब कर्मनि करत हैं, त्यागि कामना भाइ ।
ज्ञान अग्निसो कर्मदहि, पंडित पदवी पाइ ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ? जो सम्पूर्ण कर्मों को विना कामना के करता है और जिनके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूप अग्नि से जल गये हैं उसी को ज्ञानी पुरुष पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

दोहा-कर्म फलनि जोड़ै सदा, तृप्त रहै तजि आस ।
सोउ कर्म निज करत तउ, बँधै न उनकी फाँस ॥ २० ॥

जो कर्मफल की इच्छा नहीं करता और न उनमें आसक्ति रखता है तथा किसी का आश्रय न कर सदा सन्तुष्ट रहता है, वह सब कर्म में प्रवृत्त रहकर भी कुछ नहीं करता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

दोहा-मन औ आतमहि रोकि सब, लौकिक झगड़न त्याग ।
देह हेत करि कर्म जो, अघ कोउ ताहि न लागि ॥ २१ ॥

जो सम्पूर्ण आशाओं को छोड़ चित्त और आत्मा को वशीभूत कर सब संसारी झगड़ों से अलग रह केवल शरीर से कर्म करता है, वह पाप का भागी नहीं होता ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबद्ध्यते ॥ २२ ॥

दोहा-यथा लाभ सन्तुष्ट रह, सुख दुख परै जु कोइ ।
सिद्ध असिद्धि एकरस, करेहु बँधत नहि सोइ ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! जो अपने आप मिली हुई वस्तु पर सन्तोष करता है; दुःख, सुख, हानि और लाभ में जिसके मन को वेदना नहीं होती है, जो किसी से वैर नहीं करता है, जिसकी सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि है वह कर्म कर के भी कर्मबन्धन में नहीं बँधता है ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

दोहा—तज राग अरु कामना, ज्ञान लगावै चित्त ।
ईशकाज कर्मनि करै, सो न बाँधियत मित्त ॥ २३ ॥

जो स्त्री और पुत्रादि की ममता से छूट गया है, सांसारिक विषय वासना से दूर हो गया है और ज्ञान में जिसका चित्त स्थिर है वह यज्ञ के लिये और परमात्मा की प्रीति के लिये जो कर्म करता है, वे सब कर्म वासना सहित लीन हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥ २४ ॥

दोहा—होम अग्नि हवि ब्रह्म हैं, अर्पै ब्रह्मनि जानि ।
जाइ ब्रह्म में सो रहै, कर्म समाविहिं ठानि ॥ २४ ॥

ब्रह्म के अर्पण, ब्रह्म ही हवि तथा ब्रह्म हीने अग्नि में होम किया है, यह जो जानता है, अर्थात होम, अग्नि, स्रुवा, हवि, कर्ता, घृत आदि सब सामग्री को ब्रह्मरूप जानता है और जिसका ब्रह्मकर्म में समाधि अर्थात् चित्तवृत्ति है, वह अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दोहा—देवन के ही यजत हैं, कोउ योगीजन भाइ ।
ब्रह्मअग्नि में कोऊ कोउ, ज्ञानयज्ञ के दाइ ॥ २५ ॥

हे अर्जुन ! कितने ही कर्मयोगी श्रद्धापूर्वक इन्द्रादि देवताओं की पूजा करते हैं और कितने ही ज्ञानयोगी ब्रह्म-रूपी अग्नि में ब्रह्मयज्ञरूप से हवन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

दोहा—कर्ण आदि इन्द्रियन कोउ, संयमाग्निकरि होम ।
शब्दादिक विषयनि बहुरि, इन्द्रिअगिन कोउ होम ॥ २६ ॥

हे अर्जुन! कितने योगी अपने नेत्र, कान आदि इन्द्रियों को समयरूप अग्नि में होम देते हैं और कितने ही इन्द्रियों के रूप शब्दादि विषयों को इन्द्रियरूप अग्नि में होम देते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

दोहा—कोउ सब इन्द्रियन के विषय, और विषय सब प्रान ।
होमत संयम अग्नि में, जाहि दीप्त कर ज्ञान ॥ २७ ॥

कितने ही योगी कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के कर्मों को तथा प्राण, अपान आदि पाँच प्राणों के कर्म को ज्ञान से प्रदीप्त अग्नि में होमते हैं अर्थात सब विषय वासनाओं को त्यागकर केवल ब्रह्म में तत्पर हो जाते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथा परे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

दोहा—कोऊ होमत द्रव्य सों, कोउ तपस्या योग ।
एकजु पढ़ि वेदहिं यजैं, एक ज्ञान सों लोग ॥ २८ ॥

अपने नियम में बड़े तत्पर कितने ही योगी द्रव्यदान-रूप यज्ञ करते हैं, कितने कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रत यज्ञ करते हैं, कितने ही योगयज्ञ करते हैं और कितने ही वेद का पठन पाठनरूप यज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

दोहा-होम अपानहिं प्रान में, प्रान अपानहिं माहिं ।
प्रान अपानहिं रोकि कै, प्राणायाम कराहिं ॥ २९ ॥

और कोई २ अपान में प्राण का होम कर पूरक, प्राण में अपान का होम कर रेचक और प्राण तथा अपान को रोक कर कुम्भकरूप प्राणायाम में तत्पर हैं ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

दोहा-प्राणहिं में कोउ प्राण को, होमत नियत अहार ।
ये सब जानत यज्ञ को, मेटत पाप विकार ॥ ३० ॥

कोई २ आहार को नियमित कर प्राणों को होमते हैं । ये सब यज्ञ के ज्ञाता और यज्ञ से ही इनके सब पाप नष्ट हो गये हैं ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

दोहा-यज्ञ शेष अमृत भुगत, होत ब्रह्म मों लीन ।
बिना यज्ञ यह लोक नहिं, परलोकहु ह्वै छीन ॥ ३१ ॥

ये सब यज्ञ शेष अमृतरूप अन्न को भोजन कर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, हे अर्जुन ! जो यज्ञ नहीं करते हैं, उन को न यह लोक है न परलोक ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

दोहा-वेदनि कहे सुयज्ञ ये, बहुत भाँति विस्तार ।
ये सब कर्मजजानि तू, तब होइहौ भवपार ॥ ३२ ॥

ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद में विस्तारपूर्वक वर्णन किये गए हैं, इन सबकी उत्पत्ति कर्म से है, ऐसे जानने से तेरी मुक्ति हो जायगी ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

दोहा—द्रव्य यज्ञ ते श्रेष्ठ है, ज्ञानयज्ञ सुनु भाय ।
जिते कर्म वेदनि कहै, ज्ञानहिं मों लय पाय ॥ ३३ ॥

हे परन्तप ! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है । हे पार्थ ! जितने कर्म हैं, वे सब ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं अर्थात् फल के सहित ज्ञान में लीन हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

दोहा—सो तू जान प्रमाण करि, प्रश्न और अतिसेव ।
तौ ज्ञानी उपदेशिहैं, तुम्हें ज्ञान को भेव ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग इस तत्त्वज्ञान का तुझे उपदेश करेंगे, तू इनकी सेवा कर, प्रणाम कर और अनेक भाँति से पूछ ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

दोहा—जेहि जाने ते पार्थ ! तोहि, बहुरि मोह नहिं होइ ।
सब जीवन को देखिहैं, आप माँझ तव माहिं ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! इस ज्ञान के प्रताप से तुझको ऐसा मोह फिर कभी न होगा और इसी ज्ञान से सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी आत्मा में और मुझमें भी देखेगा अर्थात् भेदबुद्धि नष्ट हो जावेगी ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

दोहा—सब पापिन सों जो बड़ो, पापी हू तू होय ।
ज्ञाननाव चढ़ि उतरि है, पापसिन्धु सम जोय ॥ ३६ ॥

यदि तू सब पापियों से भी अधिक पापी होगा, तो भी तू इस ज्ञानरूपी नौका पर चढ़कर पापसागर से पार हो जायगा ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

दोहा—जैसे ज्वाला अग्नि की डारत काठहिं जारि ।
ज्ञान अग्नि तेहि भाँति सब, कर्म भस्म करि डारि ॥३७॥

हे अर्जुन ! जैसे जलता हुआ अग्नि काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है, वैसेही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जलाकर नष्ट कर देता है ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

दोहा—ज्ञान तुल्य इह लोक में, पावन नाहीं कोइ ।
योग साधि कुछ काल जो, आपु लहत नर सोइ ॥ ३८ ॥

इस संसार में ज्ञान के समान और कोई पवित्र वस्तु नहीं है, यह ज्ञान कुछ काल पर्यन्त कर्मयोग के अभ्यास से अपने आप ही उपस्थित हो जाता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

दोहा—इन्द्रियजित श्रद्धालु पनि, गुरू भक्त लह ज्ञान ।
ज्ञान पाइ तत्काल ही, पावै शान्ति महान ॥ ३९ ॥

आगे गुरु के उपदेश में श्रद्धावाला ज्ञान की प्राप्ति में तत्पर जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है और इस ज्ञान को पाकर फिर थोड़े ही काल में मोक्ष को पा लेता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

दोहा—जो मूरख श्रद्धा रहित, ताको होइ विनाश ।
जाके हिय संदेह सों, सुख दुहुँ लोक निराश ॥ ४० ॥

और जो अज्ञानी, श्रद्धारहित और संदेही है, वह नष्ट हो जाता है। सन्देही को न इस लोक में कुछ स्वार्थ है और न परलोक में कुछ स्वार्थ है और न उसे सुख ही मिलता है ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

दोहा—अर्पै मोको कर्म करि, अरु संदेह धरि दूरि ।
ज्ञानी बंधै न कर्म सों, लहै सदा सुख भूरि ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! जिसने योग से सत्कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर दिया है और जिसके ज्ञान से सब संशय दूर हो गये हैं, ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष को कर्मों का बन्धन नहीं होता है ॥४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२॥

दोहा—यासों जो अज्ञान ते, उपज्यो संशय भाय ।
ज्ञानखड्ग सों काटि के, योग करौ उठि धाय ॥ ४२ ॥

हे भरतवंशीय अर्जुन ! तुम्हारे हृदय में अज्ञान से उत्पन्न जो संशय जम गया है, उसे ज्ञानरूपी खड्ग से काट डालो और युद्ध करने के लिये उठो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

दोहा-कबहुं कहत तजु कर्म तुम, पुनि कहुं योग सुनाय ।
निश्चय करि एकै कहो, जो भल होइ उपाय ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा कि हे कृष्ण ! तुम कभी कर्मों के त्याग का उपदेश देते हो, और फिर कभी कर्म करने के लिये कहते हो, इन दोनों में जो श्रेष्ठ है, उस एक बात को निश्चय करके मुझसे कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

दोहा-कर्मयोग संन्यास अरु, दोउ सुखद मम तात ।
कर्मयोग है श्रेष्ठ पुनि, कर्मत्याग लघु बात ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण कहने लगे कि हे अर्जुन ? कर्मों का त्याग और कर्मयोग अर्थात् कर्मों का करना, ये दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं; किन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

दोहा-द्वेष करै नहिं रागहूँ, सो संन्यासी नित्य ।
रागद्वेष तजि सुखसहित, भवते पार होइ सत्य ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! जो सुख और दुःख से रहित है, वही नित्य संन्यासी है । जो न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तु की इच्छा करता है, वह सुखपूर्वक संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

दोहा-सांख्ययोग दुइ वस्तु कह, बालक पण्डित नाहि ।
दोउन में एकहु भजे, दोऊ फल ह्वै ताहि ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! अज्ञानी साङ्ख्य और योग को भिन्न कहते हैं, परन्तु पण्डितजन ऐसा नहीं कहते, जो इन दोनों में से एक में भी अच्छी तरह स्थित हो जाता है, वह दोनों का फल पाता है ॥ ४ ॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥

दोहा-मिलत स्थान जो साङ्ख से, योगहुते सोइ पाय ।
सांख्ययोग जो एक लख, पण्डित सोइ कहाय ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! साङ्ख्य अर्थात् ज्ञान से जो स्थान मिलता है, वही कर्मयोग से भी मिलता है, इससे जो ज्ञान और कर्म को एक ही देखते हैं वे ही यथार्थदर्शी विद्वान् हैं ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ ६ ॥

दोहा-अर्जुन विन कर्महिं किये, ज्ञान मिलत दुख पाय ।
कर्मयोग जो करत सो, ब्रह्म मिलत मुनिराय ॥ ६ ॥

हे महाबाहो अर्जुन ? विना कर्मयोग के संन्यास का प्राप्त होना कठिन है । कर्म करनेवाला मुनि कर्म

करने से चित्तशुद्धिद्वारा शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

दोहा—इन्द्रिय जित जो शुद्ध मन, योगयुक्त पुनि होय ।
जीवन जाने आत्मसम, कर्मलिप्त नहिं सोय ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! जो निष्काम कर्म से योगयुक्त है, जिसका मन शुद्ध है, जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को जीत लिया है और जो अपनी आत्मा को सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा से अभिन्न मानता है, वह कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता है ॥ ७ ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्

दोहा—देखि सुनिय छुइ सूंघि पुनि, खाइ जाइ अरु सोइ ।
सांस लेइ कछु करत है, नहिं ज्ञानी अस जोइ ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! कर्म में यक्त तत्त्वज्ञानी देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, चलते, सोते और श्वांस लेते हुए भी यही जाने कि मैं कुछ भी नहीं करता ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

दोहा—बोलि त्यागि लेइ सोइ अरु, जागिय हू अस जानि ।
इन्द्रिय निज विषयन लगी, मनसों ले अस ठानि ॥ ९ ॥

वे बोलते, छोड़ते, ग्रहण करते, आँख खोलते और आँख बन्द करते हुए भी यही जानते हैं कि मैं कुछ नहीं करता,

उनके विचार में यही आता है कि इन्द्रियाँ ही अपने अपने विषय में तत्पर हैं ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

दोहा—ब्रह्महिं अर्पिय कर्मफल, करत कर्म तजि संग ।
पदुमपत्र जस वारिकण, पाव न ताके अंग ॥ १० ॥

कर्मफलों को ब्रह्म में अर्पण कर जो कोई कर्मानुष्ठान करता है, उस पुरुष से पाप इस भाँति लिप्त नहीं होते हैं, जैसे कमलपत्र पर जल नहीं ठहर सकता है ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनःकर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥११॥

दोहा—तनसों मनसों बुद्धिसों, पुनि इन्द्रिनसों कीन ।
संग छाड़ि मन शुद्धि हित, योगी कर्मजु लीन ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियों से चित्त की शुद्धि के लिये योगीजन फल की इच्छा को त्याग कर कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

दोहा—ईशभकित तजि कर्मफल, पावत पद निर्वान ।
फल चाहत जो मूर्ख सो, बन्धन परत निदान ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! जो कर्मफल की कामना को छोड़ काम करता है वह ईश्वर में निष्ठारूप शान्ति को पाता है और जो ईश्वर से विमुख हो फल की कामना से कर्म करता है, वह कर्म के बन्धन में फँसता है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

दोहा—मनसों राखु न वासना, योगी कर्म कराहिं ।
नवद्वार पुर में रहिय, करहिं करावहिं नाहिं ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय पुरुष इस नौ द्वार के पुर अर्थात् नौ इन्द्रियवाले देह में मन से संपूर्ण कर्मों को त्याग कर सुखपूर्वक रहते हैं, वे ममता के अभाव से न तो स्वयं कुछ करते हैं और न अन्य से कुछ करवाते हैं ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

दोहा—ईश्वर सृजत न कर्म जग, नहिं कर्ताहु बनाय ।
कर्मफलनहू नहिं रचत, प्रकृति करत सब भाय ॥ १४ ॥

प्रभु इस जीव के न कर्तापन, न कर्म और न कर्मफल को उत्पन्न करता है । इन सबको नचानेवाली प्रकृति है अर्थात् जीव पूर्वजन्म के कर्मानुसार अगले जन्म में कर्मकरने लगता है ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

दोहा—पुण्य न काहूको गहै, प्रभु पापहु नहिं लेत ।
ढक्यो ज्ञान अज्ञान सों, मोह जीव सोइ देत ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर न किसी के पाप को ग्रहण करता है, न किसी के पुण्य को ग्रहण करता है । इस जीव का ज्ञान अज्ञान से ढका है, इसीसे अज्ञानी जीव मोह में फँस जाते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

दोहा—आत्मज्ञान ते मोह वह, जिनको पावत नाश ।
तिनको रविसम ज्ञान वह, करत सुपरम प्रकाश ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! जिनका यह अज्ञान आत्मज्ञान से नष्ट हो गया है, उनका ब्रह्मज्ञान सूर्य के समान प्रकाश करता है॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

दोहा—निष्ठा मन. अरु बुद्धि जे, राखत ईश्वर माँहि ।
जन्म मरण तिनको नहीं, मुक्तिहु संशय नाहिं ॥ १७ ॥

परमात्मा ही में जिनकी बुद्धि, आत्मा और निष्ठा है तथा उसीमें जो तत्पर हैं और परमात्मा के कृपारूप ज्ञान से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, वे इस संसार में फिर जन्म नहीं लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं ॥ १७ ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

दोहा—विद्याविनयसमेत द्विज, गो गज श्वपच औ श्वान ।
पण्डित इनको सम गनत, भेद न मनसों जान ॥ १८ ॥

पण्डितजन—विद्वान् और विनीत ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल को समान दृष्टि से देखते हैं अर्थात् उनमें कुछ भेद नहीं मानते हैं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

दोहा—समता जिनके हृदय तिन, यहि जीत्यो संसार ।
दोषरहित सब ब्रह्म हैं, उनको ब्रह्म अधार ॥ १९ ॥

जिनका मन समानता में स्थित है अर्थात् जो सबको समान दृष्टि से देखते हैं, उन्होंने यहीं इस संसार को जीत लिया है; क्योंकि ब्रह्म दोषरहित और समान है, इससे वे ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

दोहा—सुख के पाये हर्ष नहिं, दुख पाये न दुखाय ।
मोहरहित थिर बुद्धि जो, ज्ञानी ब्रह्म समाय ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! जो प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होते हैं और अप्रिय को पाकर शोक नहीं करते हैं, ऐसे स्थिर बुद्धि-वाले मोहरहित ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित रहते हैं ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

दोहा—बाह्यविषय आसक्ति तज, हिय सुख लग भरपूर ।
ब्रह्महि में नित राखिसो, अक्षय सुखगन भूरि ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! जो बाह्य इन्द्रियों के रूपरसादि विषयों में आसक्ति नहीं करता है, वह अपनी आत्मा से शक्ति और सुख का अनुभव करता है और इस शान्ति से वह ब्रह्मयोग में अपनी आत्मा को लगाकर समाधिद्वारा अक्षय सुख का अनुभव करता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

दोहा—विषयनते जे होंहि, वे सबही दुख के मूल ।
उपजत विनसत तिनहिं में, पण्डित रमत न भूल ॥२२॥

हे अर्जुन ! जो रूप रसादि इन्द्रियों के भोग हैं, वे दुःख के मूल कारण हैं, ये उत्पन्न और नष्ट हो जाते हैं, विवेकी जन इन विषयों में रमण नहीं करते हैं ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

दोहा—काम क्रोध के वेग को, यहि शरीर सहि जोइ ।
वाको योगी जानिये, और सुखी है सोइ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य जीते जी इसी शरीर में काम और क्रोध के वेगों को जीत लेता है, वही योगी और सुखी है ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

दोहा—है प्रकाश जाके हृदय, मरत वही सुख कीन ।
वह योगी परब्रह्म में, ब्रह्मरूप ह्वै लीन ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! जो अपनी आत्मा ही में सुख करता है, अपनी आत्मा ही में रमता है और जिसके अन्तःकरण में आत्मज्ञान का प्रकाश है, वह योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म के निर्वाण पद को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

दोहा—निष्पापी अरु संयमी, संशय रहित प्रवीन ।
जे योगी सब जीव हित, होहिं ब्रह्म में लीन ॥ २५ ॥

जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, जिनके दो भाव नहीं हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा को अपने वश में कर रक्खा है और

जो सब प्राणियों की भलाई चाहते हैं, वे ही योगी निर्वाण पद को पाते हैं ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

दोहा—कामक्रोध निज तजि दियो, वश कीन्हों निजचित्त ।
आतमहिं जानै योगिकर, ब्रह्म दृइ दिशिमित्त ॥ २६ ॥

जो काम क्रोध से रहित हैं, जो संयमपूर्वक रहते हैं, जिन्होंने अपना मन वशीभूत कर रक्खा है और जो आत्मतत्त्व को जानते हैं, उनको सब ओर ब्रह्मसुख वर्तमान रहता है ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥

दोहा—विषयन तजि संसार को, दृष्टि भौंह मधि देय ।
प्राण अपानहिं सम करिय, नासा मधि करि लेय ॥२७॥

इन्द्रियों के रूप रसादि बाह्य विषयों को बाहर करके दृष्टि को भौंह के मध्य में रक्खे, तब प्राण और अपान वायु को समान रखकर कुम्भक प्राणायाम करे । भ्रूमध्य में दृष्टि रखने से न तो निद्रा का भय रहता है और न बाह्य विषयों पर मन दौड़ता है इससे प्राणायाम करने में सुभीता होता है ॥ २७ ॥

जितेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥२८॥

दोहा—जीते इन्द्रिय बुद्धि मन, बुद्धि चहै मन लाय ।
इच्छा भय क्रोधहिं तजैं, सो मुनि मुक्त कहाय ॥ २८ ॥

वह मुनि जिसने अपनी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि को जीत लिया है और जो मोक्ष को चाहता है और जिसने इच्छा, भय और क्रोध को दूर किया है, वह सदा ही मुक्त है ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२९॥

दोहा—यज्ञ तपन को भोगना, सब लोकनि को राय ।
सकल जीव को मित्र मोहिं, जानि शान्ति सुख पाय ॥ २९ ॥

जो मुझे सब यज्ञों और तपों का भोगनेवाला, संपूर्ण लोकों का ईश्वर और सब प्राणियों का मित्र जानता है,उसको शान्ति मिलती है ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥







अथ षष्ठोऽध्यायः



श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

दोहा—करत कर्म कर्तव्य सब, फल इच्छा नहिं जाहि ।
संन्यासी योगी वही, अक्रिय अनग्नी नाहिं ॥ १ ॥

हे अर्जुन ! जो कर्मों के फल की इच्छा को छोड़ नित्य और नैमित्तिक कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है। जो अग्निहोत्रादिक कर्म को त्याग देनेवाला और वापी, कूप-खननादि कर्मों का परित्यागकर निष्क्रय हो जानेवाला है, वह न संन्यासी है और न योगी है ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

दोहा—जोको कह संन्यास सब, ताही योग तु जान ।
बिनु संन्यासहिं होइ नहिं, योगी सच यह मान ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! जिसको संन्यास कहते हैं, उसी को योग जानो, कोई भी फल और सङ्कल्प के त्यागे विना योगी नहीं हो सकता, कर्मफल का त्याग संन्यास और योग; ये दोनों ही बराबर हैं ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

दोहा—योग भूमि चाहे चढ़े, कर्मनि लेइ सहाय ।
योग पायके शान्ति को, लेइ सहारा जाय ॥ ३ ॥

ज्ञानी को ज्ञानयोग की प्राप्ति करनेवाले कर्म ही कारण कहलाते हैं। निष्काम कर्म करने से चित्त शुद्ध होकर ज्ञान होता है, ज्ञानप्राप्ति से मनुष्य को शान्ति मिलती है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

दोहा—विषयन मों अरु कर्म मों, होय प्रीति जब दूर ।
सब सङ्कल्पन को तजे, योगरूढ़ तब सूरि ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! जब मनुष्य इन्द्रियों के रूप रसादि विषयों में और कर्म में आसक्त नहीं होता है तथा सम्पूर्ण फलसङ्कल्पों को त्याग देता है, तब वह योगारूढ कहलाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

दोहा—अधोगमन ते उद्धरै, निज आतम को आपु ।
आतम रिपु है आपनो, आतम मित्रहि आप ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! विवेकी पुरुष का कर्तव्य है कि संसार से अपनी आत्मा को आपही उद्धार करके उसकी अधोगति न करे, अपनी आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

दोहा—आपुहि जीत्यो आपु निज, ताहि बन्धु सो होय ।
निज जीत्यो यहि आतमा, सोई रिपु तेहिं जोय ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! जिसने अपनी आत्मा से आत्मा को जीता है, वही आत्मा उसका बन्धु है और जिसने आत्मा को नहीं जीता है, वह आत्मा ही उसका शत्रु है। तात्पर्य इतना ही है कि आपही अपना शत्रु है आपही अपना मित्र है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

दोहा—जीत्यो मन अरु शान्त जो, सम सर्दी अरु घाम ।
सुख दुख मान न मान मों, ता हिय आतम धाम ॥७॥

जिसने अपना मन अपने वश में कर लिया है तथा शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान और अपमान में जो एक रस शान्त रहता है, उसके हृदय में परमात्मा स्थिर है ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

दोहा—तृप्त ज्ञान विज्ञान जो, इन्द्रिय जित न विकार ।
कांचन पाहन तुल्य जेहि, सो योगी निर्धार ॥ ८ ॥

जिसकी आत्मा ज्ञान (शास्त्र अथवा गुरु का उपदेश) और विज्ञान (अनुभव) से सन्तुष्ट है और जो सुवर्ण और पाषाण को समान समझता है,, वही योगी योगारूढ कहलाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

दोहा—सुहृद मित्र अरि द्वेष जेहि, बन्धु मधस्थ समान ।
सो योगिन में श्रेष्ठ है, साधु पापि सम जान ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु और पापाचारियों में समान दृष्टि रखता है अर्थात् सबको एकसा समझता है, तो वह योगियों में श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

दोहा–रहि अकेल मन सुथिर कर, योगी साधै योग ।
जोरै वस्तुन नेक अरु, चाहै नहिं सुख भोग ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! योगी को उचित है कि सदा एकान्त में वास करै, किसी के सङ्ग न रहे, अपने मन और आत्मा को वश में रक्खे, किसी बात की आशा न रक्खे और न किसी वस्तु का संग्रह करे, इस प्रकार सदा आत्मा को परमात्मा में लगाया करे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

दोहा–स्थान पवित्र बिलोकि करि, थिर आसन विस्तार ।
अति न ऊंच नहिं नीच बहु, पटकुश अजिनविथार ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! योगसाधन के लिए सुन्दर पवित्र भूमि में न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा कुश का आसन बिछावे, उस पर मृगचर्म और मृगचर्म पर वस्त्र बिछावे ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

दोहा–तहं बैठे मन सुथिर करि, सब इन्द्रिन को जीति ।
निज आत्मा की शुद्धि हित, योगहिके यहि रीति ॥१२॥

उस आसन पर बैठ मन को एकाग्र कर चित्त को रोक इन्द्रियों की क्रिया से रहित होकर अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये योगसाधन करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् १३

दोहा—काया शिर अरु ग्रीव को, राखै अचल समान ।
अग्रनासिका को लखै, देखै नहिं दिशि आन ॥ १३ ॥

सब देह, शिर और ग्रीवा को सीधा रक्खे, इधर उधर न हिलावे, अपनी नासिका के अग्रभाग को देखता रहे तथा किसी ओर दृष्टि न देवे ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

दोहा—शांत रहै भय को तजै, ब्रह्मचर्य्य व्रत धार ।
मुझ में राखे रोकि मन, लहै योग को सार ॥ १४ ॥

मन को शान्त करे, निर्भय हो, ब्रह्मचर्य्य में स्थित रहे, मुझमें चित्त लगावे, मन को रोके और मुझमें तत्पर हो योग का साधन करे ॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

दोहा—यहि विधि करै जु योग को, निजमन को थिर राखि ।
परम शान्ति को सो लहै, मुक्ति अमीरस चाखि॥ १५ ॥

आत्मा को वश में रखनेवाला जो योगी इस प्रकार सदा अपनी आत्मा को योग में तत्पर रक्खेगा, वह परमपदरूप और मुझमें स्थित शान्ति अर्थात् मोक्ष को पावेगा ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

दोहा–योग लहै नहि बहु भखे, विनु खायहु ना पाय।
सोवतहू नहिं होत है, अति जागहु ना पाय॥ १६ ॥

हे अर्जुन! जो बहुत भोजन करता है, उसका योग सिद्ध नहीं होता, जो निराहार रहता है उसका भी योग सिद्ध नहीं होता, जो बहुत सोता है और जो बहुत जागता है उसका भी योग सिद्ध नहीं होता है॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

दोहा–युक्त अहार विहार को, कर्मयुक्त पुनि जोय।
जागत सोवत मापकर, तासु योग दुख खोय ॥१७॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य आहार और विहार प्रमाण से करता हुआ कर्म भी प्रमाण से करता है, जो प्रमाण ही से जागता या सोता है, उसका योग दुःखों को दूर करने-वाला है॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥१८॥

दोहा–निज चित्तहि को रोकि जो, थापत आतम माहिं।
तजै सकल जो कामना, योगी तब कहि जाहिं॥ १८ ॥

जो जब अपनी आत्मा ही में अपनी चित्तवृत्तियों को रोक लेता है और सम्पूर्ण वासनाओं को छोड़ कर निःस्पृह हो जाता है, तब वह युक्त अर्थात् सिद्ध योगी कहलाता है॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

दोहा-बिनु समीर जस दीप की, शिखा कंप नहि पाय ।
योगी निश्चल चित्त तस, योगहिं मों रम जाय ॥ १९ ॥

जिसने अपना चित्त वश कर रक्खा है और जो सदैव योगाभ्यास में तत्पर रहता है, उस योगी का मन निर्वात में अर्थात् जहाँ वायु नहीं लगती ऐसे स्थान में रक्खे हुए दीपक की भाँति निश्चल हो जाता है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

दोहा-जहाँ शान्त मन होत है, किए योग अभ्यास ।
जहँ निरखत आपहिं अपन, रहत सदा सुखवास ॥ २० ॥

जिस अवस्था में योगाभ्यास से अपनी चित्तवृत्तियों के रुकने पर जहाँ विश्राम लेता है और जहाँ बुद्धिद्वारा आत्मस्वरूप को देखता है और जहाँ बुद्धिद्वारा आत्मा में सन्तुष्ट होता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

दोहा-है अनन्त इन्द्रिन परे, बुद्धि गहत सुख जाहि ।
जानि ताहि तेहिपर सुथिर, योगी अनत न जाहि ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! जो सुख अनन्त है केवल बुद्धिद्वारा ही जाना जाता है और जो अतीन्द्रिय है, उस में स्थित हो योगी आत्मस्वरूप से चलायमान नहीं होता है ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

दोहा-जाहि पाय वासों अधिक, लाभ न जानत चित्त।
स्थिरता गति डोलै नहीं, वहु दुख पाये नित्त॥ २२॥

हे अर्जुन ! योगी आत्मतत्त्वरूप इस सुख को पाकर इससे अधिक और किसी लाभ को नहीं मानता है और इस सुख में स्थिर होकर शीतोष्णादि बड़े बड़े सुख दुःखों से भी विचलित नहीं होता है॥ २२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥

दोहा-जहाँ दुःख को लेस नहिं, तेंहिको जानै योग।
निश्चय करि योगहि करै, चित्त लाइ सुख होय॥२३॥

जिस अवस्था में दुःख का लेशमात्र भी नहीं रहता, उसी अवस्था को योगावस्था समझना चाहिये, इससे प्रसन्न चित्त होकर यत्नपूर्वक योगाभ्यास करना उचित है॥ २३॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥२४॥

दोहा-संकल्पन सों कामना, जे उपजै तिन त्याग।
मनसों रोके इन्द्रियन, योग करै तजि राग॥ २४॥

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली जो कामनायें हैं, उनको त्यागकर और इन्द्रियों को मन से रोककर योगाभ्यास करे॥ २४॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२५॥

दोहा-धैर्य सहायक बुद्धिसों, धीरे करै विराग।
करै विचार न और कछु, आतमा सों करि राग॥ २५॥

धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को धीरे धीरे आत्मा में लीन करे और किसी वस्तु का ध्यान न करे ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

दोहा—मन चञ्चल अस्थिर अहै, जित २ भजे पराय ।
रोकि ताहि संयमनिसों, आतम के वश लाय ॥ २६ ॥

मन बड़ा चञ्चल है, किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता है, जहां तहां फिरा करता है। इससे जहाँ २ यह फिरे, वहां २ से इसे रोक कर आत्मा में स्थिर करे ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

दोहा—जाको मन अति शान्त है, उत्तम सुख सो पाय ।
सात्त्विक ब्रह्मस्वरूप पुनि, पाप रहित मुनिराय ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! जिसका मन शान्त हो गया है, रजोगुण नष्ट हो गया है और आत्मा निष्पाप हो ब्रह्म में लीन हुआ है, ऐसे योगी को समाधि का उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

दोहा—जो योगी यहि विधि करे, ताको पाप नसाय ।
सहजहिं सो अत्यन्त सुख, ब्रह्मानुभवी पाय ॥ २८ ॥

इस प्रकार सदा आत्मा में योग को लगाये रखनेवाला निष्पाप योगी सुखपूर्वक विना परिश्रम महत् ब्रह्मसुख का अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

दोहा—आत्मा को सबमें लखे, सबको आतम माहिं ।
समदर्शी योगी सदा, भेद दृष्टि करि नाहिं ॥ २९ ॥

सबको समान दृष्टि से देखनेवाला योगाभ्यासी अपने आत्मा को सब प्राणी में देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी आत्मा में देखता है ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

दोहा—लखै मोहिं सर्वत्र जो, सबको मोही माहि ।
वह मोको देखे सदा, हौं हूँ देखों ताहि ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! जो मुझको सम्पूर्ण प्राणियों में देखता है और सब प्राणियों को मुझमें देखता है, उस योगी से मैं अदृश्य नहीं रहता हूँ और न वह मुझसे अदृश्य रहता है, अर्थात् वह मेरा प्रत्यक्ष दर्शन पाता है ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

दोहा—सबको व्यापक मोहि में, भजै भेद बिसराय ।
सो चाहे जेहि विधि रहे, मोसों नहिं बिलगाय ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित, मुझको जो अभेद बुद्धि से भजता है, चाहे वह सब कर्मों को करे अथवा न करे, जिस भाँति इच्छा रहे तो भी मुझसे अलग नहीं है, अर्थात् वह मुझसे मिला है ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

दोहा—सबके दुख अरु सुखनि को, अपने सम जो जान।
वह योगी अतिश्रेष्ठ है, मोर कहा सच मान ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन! जो सम्पूर्ण प्राणियों के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान मानता है और सबको एकसा देखता है, वह योगी श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥

दोहा—आत्मा की समता कही, कृष्ण योग तुम जोइ।
चञ्चल मन के कारणहिं, रहै सुथिर नहिं सोइ ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्णजी का वाक्य सुनकर अर्जुन ने कहा कि हे मधुसूदन! आपने योगी की रीति यह बताई है कि सबको समभाव से देखे, परन्तु मैं अपने मन की चञ्चलता से यह समझता हूँ कि इस प्रकार का योग बहुत काल तक स्थिर रह नहीं सकता है ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

दोहा—मन चञ्चल बलवान् पुनि, हैं छोभक दृढ़ जानु।
ताको रोकन पवन सम, कृष्ण कठिन तुम जानु ॥ ३४ ॥

हे कृष्ण! मन बड़ा चञ्चल है, देह और इन्द्रियों को क्षोभ करनेवाला, बड़ा बलवान् और दृढ है। इस मन का रोकना मेरी समझ में इतना कठिन है, जितना वायु का रोकना कठिन है ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

दोहा—अर्जुन तुम साँची कही, मन चञ्चल रुकनाय ।
पै विराग अभ्यास ते, भली भाँति पकराय ॥ ३५ ॥

अर्जुन का वाक्य सुन श्रीकृष्णजी बोले कि हे महाबाहु अर्जुन ! निस्सन्देह मन बड़ा चञ्चल है, यह रुक नहीं सकता, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से इसका निग्रह हो सकता है ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

दोहा—जिन रोक्यो नहिं चित्त निज, वासों योग न होय ।
जिन अपनी मन वश कियो, लहि सकियत है सोय ॥३६॥

हे अर्जुन ! जिसका मन वश में नहीं है, उसके लिये योगसाधन कठिन है ! परन्तु जो जितेन्द्रिय है, वह यत्न करने से योगसाधन कर सकता है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

दोहा—अयती अरुश्रद्धा सहित, योग भ्रष्ट जो होइ ।
योगसिद्ध नहिं पाइकै, लहै कौन गति सोइ ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले कि हे कृष्ण ! जो प्रथम श्रद्धापूर्वक योग-साधन में प्रवृत्त हुआ, परन्तु पीछे ठीक उपाय न कर सकने से अभ्यास में शिथिल हो गया। इस कारण से उसका

मन योग की सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

दोहा—किधौं दुहुँ न ते भ्रष्ट ह्वै, मेघ तुल्य विनसाय ।
ब्रह्ममार्ग जाने विना, आश्रम कछु नहिं पाय ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! योग और कर्म दोनों से भ्रष्ट होकर निराश्रय और ब्रह्मप्राप्ति के उपाय को न जानकर, एक मेघ से निकल कर, दूसरे मेघ में मिलने से पहिले नष्ट हो जानेवाले मेघखण्ड के समान वह नष्ट तो नहीं हो जाता ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

दोहा—मेरे इस सन्देह को, दूर करौ भगवान् ।
या कहिये को तुम उचित, और न कोऊ आन ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को पूर्णरीति से दूर करिये ! क्योंकि इस संशय को दूर करनेवाला आपके सिवाय और कोई नहीं है ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

दोहा—अर्जुन दोऊ लोक में, ताको होय न नास ।
भले कर्म जो करत हैं, दुर्गति तासु न पास ॥ ४० ॥

श्रीकृष्णजी बोले हे अर्जुन ! उस मनुष्य का इस लोक वा परलोक में कभी भी नाश नहीं होता, क्योंकि उत्तम कर्म करनेवाला कोई भी दुर्गति नहीं पाता है ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

दोहा—स्वर्गादिकमों बहु बरस, योगभ्रष्ट करि वास ।
जन्मै पुनि धनवन्त कुल, जहँ शुचिता रह खास ॥ ४१ ॥

जो मनुष्य योगभ्रष्ट होकर मर जाता है, वही पुण्यात्मा लोगों के निवास करने के योग्य स्वर्ग आदि लोकों में जाकर बहुत दिन तक वास करता है और फिर पवित्र लक्ष्मीवान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

दोहा—बुद्धिवन्त योगी कुलनि, आइ लेत अवतार ।
ऐसे कुलमों जन्म अति, दुर्लभ है निरधार ॥ ४२ ॥

अथवा वह योगभ्रष्ट फिर बुद्धिमान् योगियों के कुल में जन्म लेता है, ऐसाभी जन्म इस लोक में दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

दोहा—तहँ हूँ पहली देह की, लहत बुद्धि संयोग ।
यतन करत हैं सिद्धि को, बहु विधि साधन योग ॥ ४३ ॥

हे अर्जुन ! इस संसार में जन्म लेकर फिर वह पूर्वजन्म के बुद्धि संयोग को पाता है और बुद्धि के संयोग द्वारा योग के लिये फिर यत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

दोहा—सो तो अपने वश नहीं, है पहिलो अभ्यास ।
पावत फल वह योगको, वेद फलहुँ की आस ॥ ४४ ॥

उस पूर्वजन्म के योगसिद्धि में तत्पर हो जाता है और योग स्वरूप को जानने की इच्छा कर केवल योग को ही नहीं पाता है, किन्तु वेदोक्त कर्मफल से अधिक फल पाकर मुक्त हो जाता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

दोहा—योगी जो यतनहिं करे, डरे सबै मल धोय ।
बहुत जन्मकी सिद्धिसो, लहै परमगति सोय ॥ ४५ ॥

जो योगी इस प्रकार यत्न करता है, उसके सब पाप दूर हो जाते हैं। इस भाँति अनेक जन्मों में योग की सिद्धि पाकर परमगति अर्थात् मोक्ष को पाता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

दोहा—तपसिन ते योगी अधिक, ज्ञानहुँ ते बड़ ओहु ।
कर्मिनहूँ ते अधिक है, अर्जुन योगी होहु ॥ ४६ ॥

तपस्वियों से, ज्ञानियों से और वापीकूपादिक के बनानेवाले कर्मनिष्ठों से भी योगी अधिक है, इससे हे अर्जुन ! तू योगी होवो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

दोहा-मों में निश्चल राखि मन, सब योगिन में जोय।
श्रद्धा करि मोंको भजै, योगी श्रेष्ठ सो होय ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! जो श्रद्धापूर्वक मुझमें चित लगाये मेरा भजन करता है, वह सम्पूर्ण योगियों में श्रेष्ठ है, यही मेरा मत है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अभ्यास-
योगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥
* इति प्रथमषट्कम् *





अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

दोहा—मोमें मन रखि आसरो, मेरो करि अनुराग ।
संशय तजि पूरव हमहिं, ज्यों जानियसुनजाग ॥ १ ॥

हे पार्थ ! अपना चित मुझमें लगाकर और मेरा ही आश्रय लेकर जिस भाँति संशयरहित हो मुझको पूर्णरीति से जानोगे सो मैं कहता हूँ ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

दोहा—ज्ञान सहित विज्ञान को, तोसों कहौं विशेष ।
जाके जाने जानिवो, रहत न कछु अवशेष ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! मैं अब तुमको सम्पूर्ण ज्ञान और विज्ञान सुनाता हूँ, इसे जानकर फिर कुछ जानने योग्य और वस्तु न रहेगी ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

दोहा—जतन करत हैं सिद्धि सो, कोउ हजारन माहिं ।
तिनहूँ हैं कोऊ कहै, तत्व मोर सब नाहिं ॥ ३ ॥

सहस्रों मनुष्यों में कोई ही ऐसा होता है, जो आत्मज्ञान के लिए उपाय करता है और इन उपाय करनेवालों में भी कोई ही मुझको ठीक रीति से जानता है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

दोहा—भूमी जल पावक पवन, अम्बर मन बुद्धि मान ।
अहङ्कार ये आठहू, प्रकृती भेदहिं जान ॥ ४ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और अहङ्कार ये आठ प्रकार की मेरी भिन्न २ प्रकृतियाँ हैं ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

दोहा—अपरा यह यासों विलग, परा प्रकृति इक जान ।
जीवभूत धारत जगत, जो तू ले यह मान ॥ ५ ॥

यह जो ऊपर आठ प्रकार की प्रकृति कही गयी हैं, यह अपरा अर्थात् निकृष्ट प्रकृति है और इससे अन्य जो जीव-भूत प्रकृति है, वह परा अर्थात् श्रेष्ठ प्रकृति है । हे महाबाहो ! यही परा प्रकृति सब जगत् को धारण करती है, यह तू जान ले ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

दोहा—ये दोनों प्रकृति अहैं, सब जीवन की माय ।
मोसों उपजत सब जगत, मोहिं में जात समाय ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! प्राणिमात्र मेरी इन दोनों प्रकृतियों से उत्पन्न होते हैं, इस बात को भली भाँति जान ले । इस सम्पूर्ण जगत् का उत्पन्नकर्ता और नाशकर्ता मैं ही हूँ ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

दोहा-अर्जुन मोतें अधिक कुछ, और बात मति मान ।
पोये मनियां सूत ज्यों, त्यों मोमें जग जान ॥ ७ ॥

हे धनञ्जय ! इस जगत् में मुझसे परे कोई नहीं है । जैसे सूत में मणि पिरोई जाती है, इसी भांति यह संसार मुझमें पिरोया हुआ है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

दोहा-जल में रस रविचन्द्रमो, प्रभा पार्थमो भेद ।
शब्द गगन बल मनुषमो, प्रणव अहौं सबभेद ॥ ८ ॥

हे कौन्तेय ! मैं जलों में रस, सूर्य और चन्द्रमा में प्रभा, सब वेदों में प्रणव, आकाश में शब्द और मनुष्यों में पुरुषार्थ हूँ ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

दोहा-पुण्य गन्ध हौं भूमि में, पावक में हौं तेजु ।
सब जीवन को जीव हौं, तपसिन तप लखि लेजु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! पृथ्वी में पवित्र गन्ध मैं हूँ, अग्नि में तेजरूप हूँ, सम्पूर्ण प्राणियों में जीवनरूप मैं हूं, तपस्वियों में तपरूप मैं ही हूँ ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

दोहा-सब जीवन को बीज मोहिं, पार्थ सनातन जानु ।
बुद्धिमन्त में बुद्धि हौं, तेजहु मोहि में मानु ॥ १० ॥

हे पार्थ ! मैं सम्पूर्ण प्राणियों का सनातन बीज अर्थात् उत्पत्ति का कारण हूँ बद्धिमानों में बुद्धिरूप और तेजस्वियों में तेजरूप हू ॥ १० ॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

दोहा-कामराग सो रहित हौं, बल बलवंतनि माहिं ।
धर्मयुक्त सब जीव मों, कामदेव हैं आहिं ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ! बलवान् पुरुषों में जो काम और राग-रहित बल है, वह मैं ही हूं और धर्म से अविरुद्ध जो काम है, वह भी मैं ही हूँ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

दोहा-रजते तमते सत्वते, भाव सकल जे जोहिं ।
मोसो भयो सो मोर बस, बस करि सकन न मोहि ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! जो शमदमादि सात्विक, हर्ष गर्वादि राजस और शोक मोहादि तामस भाव हैं, वे सब मुझही से उत्पन्न हुए हैं, यह जान मैं उनके वशीभत नहीं हूँ, वे ही मेरे वशीभूत हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।१३।

दोहा-तीनों गुन के भाव इन, मोहिं लियो संसार ।
निर्विकार इनते परे, मोहि न लखत गँवार ॥ १३ ॥

इन त्रिगुणमय भावों ही ने सम्पूर्ण संसार को मोह लिया है। इससे इन भावों से परे और निर्विकार मुझे कोई नहीं जानता है ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

दोहा—मेरी माया गुनमयी, तरि न जाय दुस्तार।
जो आये मोरे शरन, सोई उतरत पार ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! यह मेरी अलौकिक शक्ति और तीनों गुणवाली माया बड़ी दुस्तर है, जो कोई मेरी शरण आते हैं, वे इस माया से पार हो जाते हैं ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ा प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

दोहा—पापी मूरख अधम जन, नहिं पावत हैं मोहि।
ज्ञानहु माया करि हन्यो, असुरभाव गहि सोइ ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! मेरी माया ने जिनका ज्ञान हर लिया है और उस ज्ञान के दूर हो जाने से जो असुरतुल्य हो गये हैं, ऐसे पापी मूर्ख नराधम मुझे नहीं पाते हैं ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

दोहा—पुण्यवन्त ये चार ते, मोहिँ भजत चितलाय।
रोगी ज्ञानी धन चहैं, जिज्ञासू सुनु भाय ॥ १६ ॥

हे भरतर्षभ ! रोगी, आत्मा को जानने की इच्छा करनेवाला, धन की इच्छा करनेवाला और ज्ञानी, ये चार प्रकार के मनुष्य मुझे भजते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

दोहा—ज्ञानी दृढ़भक्ती करैं, सो इनमें अधिकाय।
ज्ञानी को अति प्रिय.जु हौं, सोऊमो मन भाय ॥ १७ ॥

इन चार प्रकार के पुरुषों में ज्ञानी श्रेष्ठ है, वह सदा मुझसे युक्त रहता है और मुझमें ही भक्ति रखता है।

ज्ञानी को मैं बहुत प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितःस हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् १८

दोहा—वे चारों अति उत्तम, ज्ञानी रूप हमार ।
उत्तमगति हो मोहि भजत, कारन यह निर्वार ॥१८॥

ये चारो प्रकार के प्राणी उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी मेरा ही आत्मा है, यह मेरा मत है ! क्योंकि वह सदैव अपना चित्त मुझमें ही लगाये रहता है और सर्वोत्तम गति रूप मेरे ही आश्रित रहता है ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

दोहा—बहुत जन्म बीतै जबै, तब ज्ञानी मोहिं पाय ।
वासुदेव मय जग लखै, हौं दूर्लभ नरराय ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! बहुत जन्म तक ज्ञान को सञ्चित करता हुआ जो इस सम्पूर्ण जगत् को वासुदेवमय जानता है, वह मुझे प्राप्त होता है, परन्तु ऐसा महात्मा दुर्लभ है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥२०।

दोहा—अविवेकी बहु कामना, करि पूजहिं सबदेव ।
करहिं नियम बहु भांति ते, निज प्रकृती के भेव ॥२०॥

हे अर्जुन ! अपनी प्रकृति के अनुसार मनुष्य धन, स्त्री, पुत्रादि उन लौकिक कामनाओं से अज्ञान में पड़ उन उन फलों की चाहना से अन्य देवताओं की उपासना करते हैं॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

दोहा—श्रद्धायुत जे पूजहीं, जो देही मन लाय ।
ताके हौं तेहि देवमो, श्रद्धा देउ बढ़ाय ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक जिस देवता के पूजन की इच्छा करता है, उन पुरुषों की उस श्रद्धा को मैं उन उन देवताओं में दृढ़ कर देता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततःकामान्मयैव विहितान् हि तान्॥२२॥

दोहा—तो वाही श्रद्धाहिते, वाहीं पूजन चाहिं ।
पूरौ हौ तो कामना, वह जानत यह नाहिं ॥ २२ ॥

मुझसे दृढ हुई उस श्रद्धा के अनुसार वह पुरुष उसी देवता का आराधना करता है और उसकी कृपा से अपने मनोरथ को प्राप्त होता है। उन मनोरथों को पूर्ण करनेवाला यद्यपि मैं ही हूं ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजोयान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

दोहा—स्वल्पमतिनकी फलजु वह, शीघ्र नष्ट होजाय ।
देवभक्तदेवहिं मिलैं, मोर भक्त मोंहि पाय ॥ २३ ॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों को कामना से प्राप्त होने के कारण वह फल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जो और देवताओं का पूजन करते हैं वे और देवताओं को प्राप्त होते हैं और जो मेरा पूजन करते हैं वे मुझ से मिलते हैं ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

दोहा-लेऊँ हौं अवतार जस, अल्पबुद्धि नर जानि।
उत्तम नित्य सुभाव मों, व्यक्त अव्यक्तहि मानि ॥२४॥

हे अर्जुन ! मैं विनाशरहित, सर्वोत्तम और परस्वरूप हूँ, बुद्धिहीन मुझको ऐसा नहीं जानते हैं। वे मुझे मत्स्य कूर्मादि अवतार धारण करनेवाला जानते हैं, इसीसे उनको नाशवान् फल मिलता है ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

दोहा-ढप्यों जु माया योग हौं, काहू को न प्रकाश।
मूरख मोंहि न जानही, अज अव्यय सुखवास ॥ २५ ॥

मैं योगमाया से आवृत हूँ। सबके सन्मुख प्रकाशित नहीं होता। मूर्ख लोग मुझे अजन्मा और अविनाशी नहीं जानते हैं ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

दोहा-बीते जे जानत तिन्हैं, वर्तमानहूँ जोय।
होनहार जे तिन लखौं, मोको लखै न कोय ॥२६॥

हे अर्जुन ! मैं भूत, वर्तमान और भविष्यत तीनों काल के सब विषयों को जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता है। २६।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

दोहा-राग द्वेष से उपज जे, सुख दुख तिनसों तात।
सृष्टिसमय मों जीव सब, मोहफन्द पड़ि जात ॥ २७ ॥

हे परन्तप ! इस संसार में आकर सम्पूर्ण प्राणी इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःख में फँसकर मोहित हो जाते हैं, इससे मुझे भूल जाते हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

दोहा-जिन सुकृतिन के ह्वै गये, नीके [illegible]य सब पाप ।
ते सुख-दुख अरु मोह तजि, मोको भजते आप ॥ २८ ॥

जिन पुण्यात्माओं के पाप दूर हो गये हैं, वे इच्छा-द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखादि और मोह-ममतादि से छूट, अपने चित्त को दृढकर मेरा भजन करते हैं ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।२९।

दोहा-जरा मरण की हानि जो, मो आश्रय चह पाय ।
ते अध्यातम ब्रह्म सब, कर्मनि जानत भाय ॥ २९ ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे आश्रय पर जरामरण से छूटने का उपाय करते हैं, वे परब्रह्म सम्पूर्ण अध्यात्म और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

दोहा-अधिदैविक अधिभूत पुनि, अधियज्ञनि सह मोंहि ।
जे जानहिं ते भूलहिं नहि, मृत्युकालहूँ मोंहि ॥ ३० ॥

जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञसहित जानते हैं, वे युक्त चित्तवाले मरने के समय की घबड़ाहट में भी मुझे नहीं भूलते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

दोहा—अध्यातम को ब्रह्म को, कर्म कहावत कौन ।
अधिदैवत अधिभूत को, भेद कहौ तुम तौन ॥ १ ॥

अब अर्जुन ने पूछा कि हे पुरुषोत्तम ! ब्रह्म क्या है ? अध्यातम क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत क्या है ? और अधिदैव क्या है ! ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

दोहा—अधियज्ञहुँ को देहसो, कृष्ण रहत विधि कौन ।
कैसे तुमको जानिये, करै प्रान जब गौन ॥ २ ॥

हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ कौन है ? वह इस शरीर में कैसे स्थित हुआ ? और मरने के समय संयतात्मा मनुष्य आप को कैसे जानै ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

दोहा—अक्षर जो परब्रह्म सो, अध्यातम जु सुभाउ ।
पालत उपजावत जु जग, यज्ञ सो कर्म कहाउ ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णजी बोले कि हे अर्जुन ! जो परम अक्षर अर्थात् अविनाशी है, वह ब्रह्म है और स्वभाव जो जीव है, वह अध्यातम है तथा सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति और वर्षा

आदि का करनेवाला जो द्रव्यत्यागरूप यज्ञ है, वही कर्म है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

दोहा–है अधिभूत शरीर यह, अधिदैवत जु विराज ।
सब देहिन की देह में, हैं अधियज्ञहिं राज ॥ ४ ॥

जो अक्षर अर्थात् नाशवान् शरीर आदि है, वह अधिभूत है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता, देवताओं का अधिपति जो दिग्गज पुरुष है, वह अधिदैवत है और हे नरोत्तम ! अर्जुन ! देह में देवपूज्य अधियज्ञ मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

दोहा–अन्त समय में देहहित, मों सुमिरन करि जोय ।
सो स्वरूप मेरो लहैं, इहाँ न संशय कोय ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! जो अन्त समय में मुझको स्मरण करता हुआ देह को त्यागता है, वह मेरे स्वरूप को पाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ५ ॥

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

दोहा–अन्त समय जेहि भाव को, सुमिरि तजत नर देह ।
सो निश्चय तेहि मिलत है, वाको तापर नेह ॥ ६ ॥

हे कौन्तेय ! अन्त समय जिस २ भाव का स्मरण करता हुआ मनुष्य देह को त्यागता है, वह मनुष्य उस भाव में लव लगाने के कारण उस भाव को ही पाता है ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

दोहा-मेरौ सुमिरन नित्य करि, युद्ध करौ मन लाय।
अर्पौ मो में बुद्धि मन, निश्चय मोको पाय ॥ ७ ॥

इससे तू मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध कर। सब प्रकार मुझमें मन और बुद्धि लगाने से तू निश्चय मुझे पावेगा ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

दोहा-योग और अभ्यास में, जाको मन थिर होय।
मोहि सुमिरत है सर्वदा, परम पुरुष लह सोय ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! अभ्यासयोगयुक्त होकर जो केवल परम पुरुष में ही चित्त लगाकर उसी का ध्यान करते हैं, वे निश्चय उसे पाते हैं ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

दोहा-कवि पुरान जगशासिता, धाता सूक्ष्म मानि।
रवि समान तम ते परे, अति अचिन्त्य मोहिं जानि ॥९॥

जो सर्वज्ञ, अनादि, सम्पूर्ण जगत् के नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके पोषक, अचिन्त्यरूप, सूर्य के समान कान्तिमान् और तम से परे जो पुरुष, उसका स्मरण करते हैं ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

दोहा—मरण समय थिर राखि मन, भक्ति योग बल पाय ।
भ्रुकुटि मध्य प्रानहिं धरै, परम पुरुष में जाय ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मरणसमय में प्राणों को भृकुटियों के बीच में अच्छी तरह से स्थिर कर उस दिव्य परम पुरुष को भक्ति और योगबल से ध्यान करता है, वह उससे मिल जाता है ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

दोहा—वैदिक जेहि अक्षर कहहिं, वीतराग जहँ जाय ।
ब्रह्मचर्य जेहि हित करे, सो पद प्रणव कहाय ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जिसे वेदवेत्ता अक्षर अर्थात् नाशरहित कहते हैं, रागद्वेषादिरहित संयमी जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसके जानने की इच्छा से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उस पद का संक्षिप्त वर्णन तुमसे करूँगा ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् १२।

दोहा—सब इन्द्रिन को बस करै, रोकै मन हिय माहिं ।
प्रानहिं रोकै भृकुटि महँ, योगधारणा गाहि ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण इन्द्रियों का निग्रह करके मन को हृदय में रोके और अपने प्राणों को मस्तकके बीच में ले जाकर योग धारण करे ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

दोहो—प्रणवाक्षर को जप करै, मोको सुमिरै भाय ।
इहि विधि जो निज देह हित, लहै परम गति जाय ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य देह को त्यागने के समय 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्म का ध्यान करते हुए मेरा स्मरण करते हैं, वे अवश्य ही मोक्ष परमपद को पाते हैं ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

दोहा—मोमें मन एकाग्रकरि, स्मरण करहिं जो नित्त ।
नित्य युक्त तेहि योगि को, अहौं सुलभ सु मित्त ॥१४॥

हे पार्थ ! जो मुझही में चित्त एकाग्र कर नित्य निरन्तर मेरा स्मरण करता है, वह एकाग्र चित्तवाला योगी मुझे बहुत सुलभ रीति से पाता है ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

दोहा—महापुरुष मोहिमें मिलत, परमसिद्धि को पाय ।
दुःखालय अरु नाशयुत, पूर्वजन्म नहिं जाय ॥१५॥

हे अर्जुन ! मुझमें मिलनेवाले परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा जब मुझको पा लेते हैं, तब वे फिर अनित्य और दुःखों के भण्डार पुनर्जन्म को नहीं पाते हैं ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

दोहा—ब्रह्मलोकलौं लोक जे, तिन तें आवन होय ।
अर्जुन मोको पाइके, जन्म लहत नहिं कोय ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक जितने लोक हैं, उनमें जाने पर बार बार जन्म लेना होता है, परन्तु हे कौन्तेय ! मुझसे मिलने के पीछे पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

दोहा—युग सहस्र के अन्त लौं, दिन ब्रह्मा को मानि ।
तितनी राती होत अस, जे जानत ते ज्ञानि ॥ १७ ॥

ब्रह्मा का दिन सहस्र युगों का होता है और रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है । जो इन बातों को जानते हैं, वे सर्वत्र दिनरात के तत्त्व को जानते हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

दोहा—कारण जो अव्यक्त है, ताते जग प्रगटाय ।
ब्रह्मा के दिन रजनि मों, ब्रह्महिं में लय पाय ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! कारणरूप जो अव्यक्त ईश्वर है, उसीसे चराचर प्राणी ब्रह्म के दिन के आगम में उत्पन्न होते हैं और रात्रि के आगम में उसी ब्रह्मा में लीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

दोहा—बार बार उपजत जगत, ब्रह्मा के दिन माहिं ।
परवश अर्जुन रजनि मों, लीन फेरि हो जाहिं ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! प्राणियों का यह सम्पूर्ण समूह परवश होकर ब्रह्मा के दिन में बार बार उत्पन्न होकर रात्रि के आगम में लीन हो जाता और दिन के आगम में फिर उत्पन्न हो जाता है ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

दोहा—अव्यक्तहु के बीज इक, है न व्यक्त कोउ भाव ।
सब प्राणिन के नशतहूँ, संत सो नाश न पाव ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! चराचर प्राणियों का कारण जो अव्यक्त है, उसका भी कारण एक और अव्यक्त है । वह अनादि है, सम्पूर्ण प्राणियों के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता है ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

दोहा—जो अक्षर अव्यक्त सों, परम गती हू होय ।
फिरै न जाको पाइ पुनि, परम धाम मम सोय ॥ २१ ॥

जो वेद में अव्यक्त अर्थात् अगोचर और अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा गया है, उसी को परमगति कहते हैं । जिसको पाकर फिर संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परम धाम है ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

दोहा—भक्ति अनन्यहि से मिलै, परम पुरुष सो मान ।
जामें सिगरे जीव बस, जगव्यापक तू जान ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! जिसके भीतर चराचर प्राणी रहते हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

दोहा—फिरि आवत जेहि समय पुनि, फिरि न आव जेहि काल ।
अर्जुन तोसों कहत हौं, सुनु मो सीख सम्हाल ॥ २३ ॥

हे भरतर्षभ ! जिस काल में योगीजन देह छोड़कर फिर नहीं आते हैं और जिस काल में फिर आते हैं, मैं अब उस काल का वर्णन करता हूँ ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

दोहा—अग्नि ज्योति दिन शुक्र पख, उत्तरायण छह मास ।
जातजु योगी या समै, करत ब्रह्म में वास ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! अग्नि, ज्योति के दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छ महीनों में जो ब्रह्मज्ञानी प्रयाण करते हैं, वे फिर नहीं आते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

दोहा—धूम रात्रि दच्छिन अयन, कृष्णपक्ष अरु होय ।
स्वर्गलोक योगी लहै, फिर आवै यह सोय ॥२५॥

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छः मास हैं, इनमें जो योगी प्रयाण करते हैं, वे चान्द्रमस लोक में जाकर फिर संसार में आते हैं॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

दोहा—शुक्ल कृष्ण दोऊ गती, जग की शाश्वत जानु।
फिरि आवतु है एकते, मोक्ष एक ते मानु ॥ २६ ॥

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष ये दोनों योगियों के जाने आने के सनातन मार्ग हैं। जो शुक्लमार्ग से जाते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं और जो कृष्णमार्ग से जाते हैं, वे फिर संसार में आते हैं॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

दोहा—दोऊ गति को जान करि, योगी मोह न पाय।
ताते अर्जुन सर्वदा, तू योगी बनु भाय॥ २७॥

हे पार्थ! जो योगी मोक्ष के और संसार के देनेवाले इन दोनों मार्गों को जानता है, वह मोह में नहीं पड़ता है। हे अर्जुन! इस से तू सदा योगी होवो॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

दोहा-वेद यज्ञ तप दान को, जो फल शास्त्र बताय ।
योगी ता फल सो अधिक, लहे मोक्षपद पाय ॥ २८ ॥

मैंने जो तत्त्व बतलाया है, उसे जानकर योगी, वेद, यज्ञ, तप और दान आदि में जो फल कहे गये हैं, उनसे अधिक फल पाता है और तब उत्तम पद पर पहुँच जाता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्म-
योगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥





अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

दोहा—अर्जुन तुम सों कहत हौं, परम गुप्त यह बात ।
जानि ज्ञान विज्ञान को, लहै मुक्ति सुनु तात ॥ १ ॥

हे अर्जुन ! तू परनिन्दक नहीं है, इससे विज्ञानसहित जो यह अत्यन्त गुप्त ज्ञान है, वह मैं तुझसे कहता हूँ । इसे जानकर तू सब अशुभ कर्मों से छूट जायगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

दोहा—गुप्तराज विश्राम है, अतिपवित्र ले जानि ।
फल ताको प्रत्यक्ष है, करिये ते सुख मानि ॥ २ ॥

हे अर्जुन ? मैं जो ज्ञान तुझे सुनाता हूँ, वह सब विद्याओं का राजा अर्थात श्रेष्ठ है, सबसे अधिक गुप्त रखने योग्य है, अत्यन्त पवित्र है, यह वेदोक्त धर्मों का प्रत्यक्ष फल है, सुखपूर्वक साधन के योग्य है और नाशरहित है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

दोहा—अति उत्तम यहि धर्म पर, रखत न श्रद्धा जोइ ।
मोको पावत है नहीं, भ्रमत सदा भव सोइ ॥ ३ ॥

हे परन्तप ! जो मनुष्य इन श्रेष्ठ धर्मों में श्रद्धा नहीं करते हैं, वे मुझको प्राप्त नहीं होते हैं और इस नाशवाले संसार में घूमते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

दोहा—मूर्ति मोर अव्यक्त जो, तासों जग हौं छाउँ ।
सबै जीव मो महँ बसै, मैं तिनमो नहिं जाउँ ॥ ४ ॥

इस सम्पूर्ण जगत् को मैंने अपने अव्यक्तरूप से व्याप्त कर लिया है । सब प्राणी मुझमें स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

दोहा—बस न भूत कोउ मोहिं में, ईश्वरता लखु मोरि ।
उपजावत पालत तऊ, दूर रहउँ तिन छोरि ॥ ५ ॥

ये सब प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं, यह मेरे ऐश्वर्य्ययोग का प्रभाव है । तू मेरे ऐश्वर्य सम्बन्धी योगबल को देख कि प्राणियों का भरण-पोषण करनेवाली मेरी आत्मा प्राणियों का लालन-पालन तो करती है, परन्तु उनमें स्थित नहीं है ॥ ५ ॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

दोहा—जैसे वायु अकाश में, विचरत व्यापक रूप ।
ताहि भाँति सब जीव ये, बसत हमार स्वरूप ॥ ६ ॥

जैसे वायु बड़ा है और सब जगह विचरता है, परन्तु आकाश में लिप्त नहीं होता है, ऐसे ही सब प्राणी मुझमें स्थित हैं, परन्तु मैं किसीमें लिप्त नहीं होता हूँ ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

दोहा—प्रलयकालमों जीव सब, मम प्रकृतिहिं लय पाय।
कल्प आदि में हौं तिनहिं, पुनि सिरजा मन लाय ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! प्रलयकाल में सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं, फिर कल्प के आदि में मैं उनको छोड़ देता हूँ अर्थात् उत्पन्न करता हूँ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

दोहा—निज प्रकृतिहि के आसरे, सृजौं जीव बहुबार।
प्रकृती के बस में परचो, रहत यहै संसार ॥ ८ ॥

मैं अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर प्रकृति के कारण पराधीन हो इस सम्पूर्ण प्राणीसमूह को बराबर उत्पन्न करता हूँ ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

दोहा—अर्जुन मोकों कर्म वे, बाँधि सकत हैं नाहिं।
सदा उदासी सम रहौं, अनाशक्त तिन माहिं ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय! ये कर्म मुझे बन्धनरूप नहीं होते, क्योंकि मैं उनकी सृष्टिरचनादि कर्मों में लिप्त नहीं होता हूँ और उदासीनवत् किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं रखता हुआ स्थित रहता हूँ ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

दोहा—मो प्रेरित प्रकृती सबै, उपजावत संसार।
पारथ याही हेतु ते, फिरत जगत बहु बार ॥ १० ॥

हे कौन्तेय ! मैं ही अध्यक्ष हूँ, मेरी अध्यक्षता ही से प्रकृति चराचर प्राणीमात्र को सृजती है, इसी हेतु से इस जगत् का परिवर्तन होता रहता है ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

दोहा—मोको मानुष जानि के, आदर करत न मूढ़ ।
परमतत्त्व जानत नहीं, यहै जु ईश्वर गूढ़ ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ? मैं सब जीवों का परमेश्वर हूँ, वे मेरे इस परम तत्त्व को नहीं जानते हैं, इसीसे मैंने जो यह मनुष्यरूप धारण कर लिया है, उसका आदर नहीं करते ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

दोहा—जितनी आशा सुफल नहिं, ज्ञान कर्म तस भाय ।
प्रकृति आसुरी राक्षसी, मोहिनि मा बुड़ि जाय ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! इनकी आशा निष्फल, इनके कर्म निष्फल और इनके ज्ञान निष्फल हैं, जो मोह को उत्पन्न करनेवाली है। अतएव ये मेरा अनादर करते हैं ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

दोहा—सब जीवन को आदि अरु, अविनाशी मोहि जान ।
देवप्रकृति के नर भजहिं, एकचित्त असमान ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति का आश्रय रखनेवाले महात्मा लोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का आदि और अविनाशी जानकर एकाग्र चित्त से मेरा ही भजन करते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

दोहा–सदा भजत मोको रहहिं, दृढ़ मन ज्ञान उपाय ।
भक्तियुक्त प्रणमत हमहिं, नित्ययुक्त मुनिराय ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! वे महात्मा लोग निरन्तर मेरा भजन और कीर्तन करते हैं, दृढ संकल्प करके मेरी प्राप्ति का उपाय करते हैं और भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हैं । सदा मुझमें ध्यान लगाकर मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥ १५॥

दोहा–ज्ञानयज्ञ ते कोउ भजत, कोउ मोहिं सेवत मीत ।
कोऊ मानत एक करि, कोऊ बहुत पुनीत ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ? कितने ही मनुष्य एकभाव अर्थात् अभेद बुद्धि से, कितने ही दास्यभाव से, भेदबुद्धि द्वारा और कितने ही सब प्राणियों का आत्मस्वरूप मुझे ब्रह्मा रुद्ररूप समझकर मेरी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

दोहा–हमही क्रतु अरु यज्ञ पुनि, स्वधा औषधी होहुँ ।
हौं पावकयुत:होम हौं, मन्त्रौं मानिय मोहुँ ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ? वेदोक्त अग्निष्टोमादि यज्ञ, बलिवैश्वदेवादि पञ्चमहायज्ञ, स्वधा, अन्नादि औषधि, मन्त्र, होम का साधन घृत, होम का आधार अग्नि और होम भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

दोहा–मातपिता ताको पिता, हौं जग को भरतार ।
ऋक् यजु साम पवित्र हौं, और ज्ञेय ओङ्कार ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण जगत् का माता, पिता और धाता अर्थात् पालक, पितामह, वेद्य अर्थात् जानने के योग्य, पवित्र, ओङ्कार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

दोहा–गति निवास भर्ता सरन, साक्षी प्रभु अरु मित्र ।
प्रलय थाननिधि प्रभव पुनि, अव्यय बीजन शत्रु ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! इस सब जगत् की गति मैं हूँ, सबों का पोषण कर्ता मैं हूँ, सबका प्रभु मैं हूँ, शुभ अशुभ कर्मों का साक्षी मैं हूँ, सबका निवासस्थान मैं हूँ, सबका रक्षक मैं हूँ, सबका हितकारी मैं हूँ, सबका उत्पत्तिस्थान मैं हूँ, प्रलय मैं हूँ, विश्व की स्थिति और प्रलयस्थान मैं हूँ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

दोहा–तपहुँ वृष्टि रोकहुँ बहुरि, बर्षहुँ हैंाही जानु ।
अमृत मृत्यु अरु सत असत, हैंाही अर्जुन मानु ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ? मैं ही सूर्यरूप से सबको तपाता हूँ, मैं ही जल बरसाता हूं और मैं ही रोक देता हूं, मैं ही अमृत और मृत्यु हूं और मैं ही सत और असत् हूं ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

दोहा—वेद जु जानै तीन जे, सोम पान करि सोय ।
यज्ञ करिय चाहत सरग, सकल पाप को धोय ॥
लहि पवित्र हरिलोकते, देवभोग बहु भोग ।
दिव्य स्वर्ग मों वसत हैं, तजिय अखिल भवशोक ॥ २० ॥

हे अर्जुन! ऋक् यजु साम इस वेदत्रयी के ज्ञाता जो वेदोक्त यज्ञ कर्म करके, सोमरस का पान कर, अपने पापों से पवित्र हो स्वर्ग में वास करना चाहते हैं, अन्त में वे पवित्र स्वर्ग में जाकर देवताओं के भोगने के योग्य दिव्य भोगों का भोग करते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

दोहा—स्वर्गलोक में भोग बहु, भोग पुन्य छयपाय ।
आवत पुनि यह लोकमो, सत्य कहौं सुनुभाय ॥
तीन वेद को धर्म जे, पालतु हैं नर कोय ।
पावहिं आवागमन ते, रखत कामना सोय ॥ २१ ॥

वे स्वर्गलोक में अनेक भोगों को भोगकर पुण्य-क्षीण होने पर फिर मृत्युलोक में जन्म लेते हैं । इस प्रकार वेदोक्त यज्ञादि कर्मों के करनेवाले कामनाओं के

कारण स्वर्ग में जाते और मृत्युलोक में आते हैं। इस भाँति आवागमन के फन्दे में फँसे रहते हैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

दोहा–हौ अनन्यमन मोर जे भक्ति सहित करि ध्यान ।
योगक्षेम तिनका करौं, सतत संयमी जान ॥ २२ ॥

जो अनन्यभक्त मेरा ध्यान करते हुये, मेरी उपासना करते हैं उन नित्य योगियों को मैं इस संसार में जो वस्तु उनके पास नहीं है उन्हें जुटा देता हूँ और जो उनके पास है, उनकी रक्षा करता हूँ ॥ २२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

दोहा–श्रद्धायुत जे भक्त कोउ, सेवहिं औरो देव ।
अविधि सहितते मोंहि को, यजत जानि नहिं भेव ॥ २३ ॥

हे कौन्तेय ! जो अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा करके अपने अपने उन उन इष्टदेव की उपासना करते हैं, वे मेरी ही अविधिपूर्वक पूजा करते हैं ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

दोहा–सब यज्ञन को भोगता, हौ सबको प्रभु यार ।
मेरो तत्त्व न जानहीं, फिर आवत संसार ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! मैं सब यज्ञों का भोक्ता और सबका प्रभु हूँ, जो मेरे इस तत्त्व को नहीं जानते हैं, वे आवागमन से नहीं छूटते हैं ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्याया यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

दोहा—देवभक्त देवन लहैं, पितृपूजक पितृ जाय।
भूतपूजि भूतहि लहैं, मो पूजक मोंहि पाय ॥ २५ ॥

हे अर्जुन! देवताओं के पूजनेवाले देवगति को प्राप्त होते हैं, पितरों के पूजक पितृगति को पाते हैं, भूतों के पूजनेवाले भूतों को पाते हैं और मेरे पूजनेवाले मुझे पाते हैं ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

दोहा—पात फूल फल नीरऊ, करे जु अर्पन मोहिं।
भक्तिदान सो लेउँ हौं, दियो संयमी ओहि ॥ २६ ॥

हे अर्जुन! जो कोई संयमी भक्तिपूर्वक पत्र, फूल, फल, जल को भी मुझे अर्पण करता है, तो भक्तिपूर्वक दी हुई उस वस्तु को मैं बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करता हूँ ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

दोहा—जो कुछ करतु जो खातु है, जो होमत जो देहि।
अर्जुन जो तू जप करै, सो करु अर्पन मोहि ॥ २७ ॥

हे कौन्तेय! जो कुछ तू करता है, खाता है, होम करता है, तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

दोहा—करमफाँस शुभ अशुभ जे, फलवे जाहि नसाय ।
योगयुक्त संन्यास करि, मुक्त होइ मोहिं पाय ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! ऐसा न करने से कर्मबन्धनरूप शुभ-अशुभ फलों से बच जाओगे और संन्यासयोग में युक्त होकर मुक्ति पा, मुझको पाओगे ॥ २८ ॥

समोऽहंसर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

दोहा—मोको सम सब जीव हैं, मित्र शत्रु मोहि नाहिं ।
जो मोहिं भजते भक्ति सों, ते हौं हैं तिनमाहिं ॥ २९ ॥

हे अर्जुन ? मैं सम्पूर्ण प्राणियों में समान रूप हूँ, न कोई मेरा शत्रु है, न कोई मेरा प्रिय है । मुझको जो कोई भक्तिपूर्वक भजता है, वह मुझमें और मैं उसमें हूँ ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

दोहा—दुराचारिहू मोहि भजै, ह्वै अनन्य गति भाय ।
ताको साधू जानिये, सत निश्चय तिन पाय ॥ ३० ॥

यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी हो, औरों की भक्ति न करके मेरी ही उपासना करे, तो वह साधु है और उसीने सब बातों को अच्छे प्रकार निश्चय कर लिया है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

दोहा—वेगि होत धर्मात्मा, सदा शान्त रह भाय
अर्जुन निश्चै जानि तू, नहिं मो भक्त नसाय ॥ ३१ ॥

अनन्य भक्त शीघ्र ही दुराचारों से छूटकर धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर शान्त रहता है। हे कौन्तेय ! इस बात को निश्चय जान ले कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता है ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति पराङ्गतिम् ३२

दोहा—अर्जुन आश्रित मोर जे, पाप योनि भल होय।
नारि शूद्र अरु वैश्य पुनि, लहत परम गति सोय॥ ३२॥

हे पार्थ ! कोई कितना ही पापी क्यों न हो, चाहे स्त्री हो वा वैश्य हो वा शूद्र हो, वह यदि मेरा आश्रय लेता है, तो उत्तम गति को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

दोहा—द्विज पुनीत कहँ भक्तवर, राज ऋषिन समुदाय।
असुख अनित्यहि लोकलहिं, मोहिं भजो चित लाय ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! जो पुण्यात्मा ब्राह्मण और भक्त राजर्षि हैं, उनकी बातका कहना ही क्या है ? वे तो मोक्ष पाते ही हैं। इसलिये हे अर्जुन ! अनित्य, सुख रहित, इस लोक को पाकर मेरा भजन कर ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

दोहा—मोहिं मो मन रखु मोहि भजु, प्रनम मोंहि यज मोहिं।
मो आश्रय ते योग करि, निश्चय लह तू मोहि ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! तू अपना मन मुझमें लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर, मेरे में तत्पर हो। ऐसे अपनी आत्मा को युक्त करने से निश्चय मुझको पावोगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दोहासहितभाषाटीकायां राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥





अथ दशमोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१॥

दोहा—अर्जुन तुम औरो सुनौ, मोरी उत्तम बात ।
लखि प्रसन्न तुमहीं कहौं, तुमरे हित की बात ॥ १ ॥

हे महाबाहो ! मेरी और दूसरी उत्तम बात सुनो ! तू मेरे वचन सुनकर प्रसन्न होता है,इसलिये तेरी भलाई के लिये कहता हूँ ॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

दोहा—देवऋषी जानहिं नहीं, मम उत्पत्ती भाय ।
देवगनहुँ ऋषिगनहुँ को, हौहीं आदि कहाय ॥ २ ॥

मेरे जन्म को देवता वा महर्षि कोई भी नहीं जानते हैं, मैं सम्पूर्ण देवता और सम्पूर्ण ऋषियों से पहले हुआ हूँ, वे सब मुझही से उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३ ॥

दोहा—अज अनादि जगदीश पुनि, मोको जानै जोय ।
सब नर मों ज्ञानी वहीं, पाप बहावत धोय ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! जो मुझे अज, अनादि और सम्पूर्ण लोकों का ईश्वर जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है और सम्पूर्ण पापों से छूट जाता है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

दोहा—बुद्धि ज्ञान शम दम क्षमा, सत्य मोह नहिं होय ।
सुख दुख लय उत्पत्ति भय, और अभय पुनि जोय ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! बुद्धि, ज्ञान, अव्याकुलता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, लय, भय और अभय ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

दोहा—तोष अहिंसा दान तप, समता यश अपमान ।
जीवन के सब भाव ये, मोते होत सुजान ॥ ५ ॥

अहिंसा, समता, सन्तोष, तपस्या, दान, यश, अपकीर्ति ये सब प्राणियों के पृथक् पृथक् भाव मुझही से होते हैं ॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

दोहा—सातो ऋषि मुनि चारि मनु, मानस सृष्टी मोर ।
सबै जीव इनकी प्रजा, जग फैली निज सोर ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! वसिष्ठादि सात महर्षि, सनकादि चार ऋषि, तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु, ये सब मेरे मनसे प्रगट हुए हैं, इन्हीं से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई हैं, जो चौदहों लोक में फैली हैं ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

दोहा—मेरी योग विभूति को, तत्वज्ञान जेहि होय ।
निश्चल योगहि सो लहै, इहाँ न संशय कोय ॥ ७ ॥

जो पुरुष मेरी इस विभूति और ऐश्वर्य के तत्त्व को जानते हैं, वे निश्चल योग से युक्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

दोहा—मैं हौं कारण जगत को, मोही ते सब होय ।
ज्ञानवन्त यह जानि कै, मोको भजते सोय ॥ ८ ॥

मैं सबके उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझहीं से सबकी प्रवृत्ति होती है। यह जानकर विवेकी पुरुष विवेक करके मेरा स्मरण करते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

दोहा—प्रान चित्त मोमें धरत, बोध परस्पर देहिं ।
मेरो चरित बखान कर, तोष परम सुख लेहि ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! वे सदा मुझमें ही चित्त लगाते हैं और अपने प्राणों को मुझही में अर्पण किये रहते हैं, आपस में एक दूसरे से मेरा ही उपदेश करते हैं और मेरी ही चर्चा करते हैं। इस प्रकार नित्य सन्तुष्ट रहते हैं और आनन्द में मग्न रहते हैं॥९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

दोहा—मोहिं में रह आसक्त जे, भजत सदा करि प्रीति ।
जेहि विधि मोको लहहिं सो, देउँ ज्ञान की रीति ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो इस रीति से निरन्तर मुझमें लगे रहते हैं और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उनको मैं ऐसी बुद्धि देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

दोहा—करि किरपा तिन पै हरहुँ, अज्ञानज तम भाय।
ज्ञानदीप पुनि तेजमय, उन हिय देउँ लगाय ॥ ११ ॥

हे अर्जुन! ऐसेही पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिये आत्मभाव में स्थित मैं प्रकाशमान ज्ञानरूप दीपक से उनके अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

दोहा—परम तेज परब्रह्म अज, अति पवित्र अरु नित्य।
आदिदेव व्यापक अजर, दिव्य पुरुष तुम सत्य ॥ १२ ॥

अर्जुन कहने लगे कि हे कृष्ण! आप परब्रह्म, परम तेजोमय, परम पवित्र, नित्य पुरुष, दिव्य आदि देव, अजर और विभु हो ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

दोहा—देवऋषि नारद असित, देवल व्यास मुनीन्द।
औरौ ऋषि इहि विधि कहत, स्वयं कहहु गोविन्द ॥ १३ ॥

हे कृष्ण! ऋषि तथा देवर्षि, नारद, असित, देवल और व्यास आदि आपको ऐसा ही अर्थात् अज और विभु आदि कहते हैं। आप भी स्वयं अपने को ऐसा ही कहते हो ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

दोहा—मोसों जो कुछ कहत तुम, सत मानौ सब भाय।
देव दनुज जानत नहीं, तुम प्रगटे कब आय ॥ १४ ॥

हे केशव ! जो कुछ आप कहते हैं और जो कुछ सब ऋषिगण कहते हैं, इन सबको मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवन् ! देवता और दानव आपकी उत्पत्ति के कारण को नहीं जानते हैं ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

दोहा-जानहु आपहिं आपको, तुम पुरुषोत्तम देव ।
भूतनियन्ता भूतपती, जगन्नाथ अधिदेव ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम ! हे भूतेश ? (जीवों के ईश्वर) भूतभावन ! (प्राणियों के नियन्ता) हे देवन के देव ! हे जगत्पते ! आप ही अपने को जानते हो, आपको दूसरा कोई नहीं जानता है ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि १६

दोहा-दिव्य विभूति आपनी, सब मोहिं देहु सुनाय ।
जिनसों तुम सब जगत को व्याप्त करत हौ भाय ॥१६॥

हे श्रीकृष्ण ! आप अपनी उन सब विभूतियों का वर्णन कीजिये, जिन विभूतियों के द्वारा आप इन लोकों को व्याप्त कर स्थित हो ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

दोहा-हे योगी जानहुँ कहा, सदा ध्यान करि तोहिं ।
किन किन वस्तुन मों तुमहिं, ध्याउँ बतावहु मोंहि ॥१७॥

हे योगी श्रीकृष्ण ! आपका निरन्तर ध्यान करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ । हे भगवन् ! आपका ध्यान किन किन भावों से करना योग्य है ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृणवतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

दोहा—विस्तरसों निज योग अरु, कृष्ण विभूति सुनाउँ ।
फेर अमृतसम वचन कहु, सुनत तृप्ति नहिं पाउ ॥ १८ ॥

हे जनार्दन ! आप अपनी प्राप्ति का उपाय, योग और विभूति को विस्तारपूर्वक मुझे सुनाइये । आपकी अमृतरूपी वाणी को सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

दोहा—दिव्य विभूती आपनी, अर्जुन तोहि सुनाउँ ।
अन्त नहीं विस्तार को, वासों मुख्य गनाऊँ ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! मैं अपनी दिव्य विभूतियों को तुझे सुनाता हूँ । मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है, इससे प्रधान ही प्रधान सुनाता हूँ ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

दोहा—अर्जुन हम सब जीव के, मध्य आत्मा भाय ।
आदि मध्य पुनि अन्त हूँ, सबके हमहिं कहाय ॥२०॥

हे गुड़ाकेश ! (निद्राविजयी) मैं सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में रहनेवाला अन्तर्यामी हूँ । मैं ही सबका उत्पन्न करनेवाला, पालन करनेवाला और संहार करनेवाला हूँ ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

दोहा-आदित्यन में विष्णु हैं, ज्योतिन में रवि जानु ।
वायुन माँझ मरीचि हैं, नक्षत्रन शशि मानु ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ? बारह आदित्यों में विष्णु मैं हूँ, प्रकाशमान् ज्योतियों के अंशुमाली सूर्य मैं ही हूँ ! उनचास मरुत् गणों में मरीचिवायु मैं हूँ और तारागणों में चन्द्रमा मैं हूँ ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

दोहा-वेदन मों मैं साम हौं, इन्द्र देवगण माहिं ।
जीवन में हौं चेतना, मन इन्द्रियगण माहिं ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों में चेतनाशक्ति मैं ही हूँ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शङ्करश्चाऽस्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३।

दोहा-रुद्रन में शङ्कर अहौं, यक्षन माहिं कुबेर ।
पावक हमहीं वसुन में, शैलन माहिं सुमेर ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! रुद्रों में शङ्कर, यक्ष राक्षसों में कुबेर, आठ वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु मैं हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥२४॥

दोहा-श्रेष्ठ पुरोहित वर्ग में, मोहिं बृहस्पति जानु ।
सेनापति मों स्कन्द हौं, सर में सागर मानु ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझको ही जानो, सेनापतियों में स्कन्द और स्थित जलाशयों में समुद्र मैं हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।२५॥

दोहा—अहौं महर्षिन माई भृगु, प्रणव सुवाकनन माहि ।
यज्ञनमें जपयज्ञ हौं हिमधर अचलन माहिं ॥ २५ ॥

महर्षियों में भृगु, वाणी में एक अक्षर ओङ्कार, यज्ञों में जपयज्ञ और स्थावरों में हिमालय मैं हूँ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

दोहा—वृक्षन में पीपल अहौं नारद हौं ऋषिदेव ।
गन्धर्वनमें चित्ररथ, कपिल सिद्धके भेव ॥ २६ ॥

वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

दोहा—अश्वन में उच्चैश्रवा, अमृतहि ते जों होय ।
ऐरावत सब गजनमें नरमें नृप मोहिं जोय ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! मुझे घोड़े में अमृत से उत्पन्न उच्चैःश्रवा, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा जानो ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।२८।

दोहा–शस्त्रन मों हौं वज्र पुनि, कामधेनु गौ माहिं
उत्पादक हौं कामज, वासुकि सर्पन माहिं ॥ २८ ॥

आयुधों में वज्र, गौवों में कामधेनु, उत्पन्न करनेवालों में कामदेव और सर्पों में वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

दोहा–नागन मों हौं शेष अहि, वरुण अहौ जलजीव ।
पितरन में हौं अर्यमा, यम हौं शासक नीव ॥ २९ ॥

हे अर्जुन ! नागों में शेषनाग, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा और शासन करनेवालों मैं यम मैं हूँ ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दोहा–दैत्यन में प्रह्लाद हौं, गणकन में हौं काल ।
सिंह अहौं सब मृगन में, खग में गरुड़ विशाल ॥३०॥

हे अर्जुन ! दैत्यों में प्रह्लाद, गणना करनेवालों में काल, मृगों में सिंह और पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

दोहा–वेगवान में पवन हौं, शस्त्रधरन में राम ।
जलजन्तुन में मगर हौं, नदियन गङ्गा नाम ॥ ३१ ॥

वेगवानों में पवन, शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर और नदियों मे गङ्गा मैं हूँ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

दोहा—सब सृष्टिन को आदि अरु, मध्य अन्त मोहिं मान।
वादिन में सिद्धान्त हैं, हैं अध्यातम ज्ञान ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन! सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ। विद्याओं में अध्यात्मविद्या, और वादियों में सिद्धान्त मैं हूँ ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

दोहा—अक्षर माहिं अकार हैं, द्वन्द्व समासन जानु।
हैं हीं अक्षय काल हैं, पालक सबमें मानु ॥३३॥

हे अर्जुन! अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्व समास, अक्षय, काल और चारों ओर मुखवाला सबका भरण-पोषण कर्त्ता मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिःश्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥

दोहा—सब संहारक मृत्यु हैं, औ उपजावनहार।
श्री कीरति वाणी क्षमा, धृति मति स्मृति हैं नार ॥३४॥

हे अर्जुन! सबका संहारकर्त्ता मृत्यु मैं ही हूँ। सबका उत्पन्न करनेवाला मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५॥

दोहा—बृहत्साम हौं साम में, गायत्री हौं छन्द।
अगहन हैं सब मासमें, ऋतु बसन्त सुखकन्द ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! सामवेद मन्त्रों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री छन्द, मासों में मार्गशीर्ष मास, और ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

दोहा—छलियन में मैं द्यूत हौं, तेज तेजस्विन माहिं ।
जय औ उद्यम जानु मोहिं, सत्य सात्त्विकन माहिं ॥ ३६ ॥

छलियों में जुआ, तेजस्वियों में तेज, विजयियों में जय, उद्योगियों में उद्योग, बलवानों में बल मैं हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जय ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

दोहा—यादवगण में कृष्ण हौं, अर्जुन पाण्डव माहिं ।
मुनिन माँझ हौं व्यास मुनि, गनौं शुक्र कवि माहिं ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! वृष्णिवंशियों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, और कवियों में शुक्राचार्य मैं हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दोहा—दण्डधारि में दण्ड हौं, नीतिवान् में नीति ।
ज्ञानवान् में ज्ञान हौं, मौन छुपावन रीति ॥ ३८ ॥

हे अर्जुन ! दण्ड देनेवालों में दण्ड, जीतने की इच्छा रखनेवालों में नीति, गप्त करनेवाले उपायों में मौन और तत्त्वज्ञानियों में ज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

दोहा—सब जीवन को बीज जो, सो अर्जुन मोहिं जानु ।
जीव चराचर यहि जगत, मो बिन एक न मानु ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणियों में उत्पन्न करने का बीजभूत कारण मैं हीं हूँ । चराचर प्राणियों में ऐसा कोई नहीं है, जिसमें मैं नहीं हूँ । मैं सब में हूँ ॥ ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

दोहा—मेरी दिव्य विभूति को, अन्त न कोऊ पाय ।
यह तो थोरा सो कह्यो, विस्तर कह्यो न जाय ॥ ४० ॥

हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, उनका वर्णन करना असम्भव है । यह जो कुछ मैंने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है, वह संक्षेप से हैं ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

दोहा—कान्तिवान् ऐश्वर्ययुत, बली जगत जो होय ।
सो सब मेरे तेज को, अंश न दूसर कोय ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! संसार में जा वस्तु ऐश्वर्यवान्, कान्तिवान् और बलवान् है, उनको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई समझो ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२

दोहा-बहुत कहा तोसों कहौं, अर्जुन ज्ञान बढ़ाय।
एक अंश ते मैं जगत्, व्याप्त कियो सुनु भाय ॥ ४२ ॥

अथवा हे अर्जुन ! इन सब विभूतियों को भिन्न २ रूप से जानने से तुझे क्या प्रयोजन है। तू इतना ही जान ले कि मैंने इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से व्याप्तकर धारण कर रक्खा है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूति-
योगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥





अथ एकादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

दोहा—मोपर करि किरपा गुपुत, अध्यातम यह नाथ ।
कह्यौ तोहि सुनि कृष्ण मम, मोह छुट्यो इक साथ ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा कि, हे कृष्ण ! आपने मेरे अनुग्रह के लिये जो महागूढ़ यह अध्यात्मज्ञान सुनाया है, इससे "मेरा मैं मारनेवाला और ये मरनेवाले" इत्यादि सब मोह दूर हो गया है॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तःकमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

दोहा—जीवन की उत्पत्ति सुनि, और प्रलय की बात ।
कह्यो जु तुम विस्तार सों,निज माहात्म्यहु तात ॥ २ ॥

हे श्रीकृष्ण ! मैंने प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय का वृत्तान्त आपके मुख से विस्तारपूर्वक सुना, और आपका अक्षय माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

दोहा—निज आत्मा जैसो कह्यो, तुम तैसो सो देव ।
विश्वरूप देखन चहौं, मो विनती सुनि लेव ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! जैसा आपने अपना वर्णन किया, आप वैसे ही हैं । हे पुरुषोत्तम ! आपके परमेश्वरी अर्थात् ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छः गुणों से युक्त रूप का दर्शन किया चाहता हूँ ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

दोहा—देखि सकत हम रूप सो, जो जानहु यदुराय ।
अविनाशी निज रूप तो, दीजै मोहि दिखाय ॥ ४ ॥

आपका वह रूप देख सकता हूँ, तो हे योगेश्वर ! आप मुझे अपने उस अविनाशी रूप को दिखाइए ॥ ४ ॥

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

दोहा—है पारथ तू देखि ले, शत सहस्र मम रूप ।
बहुत भाँति है दिव्य जो, नाना वरण सरूप ॥ ५ ॥

भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! तू मेरे सैकड़ों, सहस्रों रूपों को देख । मेरे दिव्य रूप अनेक प्रकार के हैं, अनेक वर्ण और अनेक आकृतियों के हैं ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

दोहा—मरुत रुद्र आदित्य बहु, आश्विनि सुतहूँ देख ।
औ अचरज के रूप जे, पहले नाहीं पेख ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! (मेरे देह में) आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गणों को देख और उन आश्चर्ययुक्त बहुत बातों को देख, जिनको तैंने कभी नहीं देखा है ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश ! मेरे इस देह में सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक ही स्थान पर एकत्र देख । और भी जिन २ वस्तुओं को तू देखना चाहता है, उन सबको देख ले ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

दोहा—देखि सकैं नहिं नयन ये, देउँ दिव्य दृग तोहिं ।
योगैश्वर्य समेत तू, जैसे देखै मोहिं ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! तू अपने नेत्रों से मेरे रूप को न देख सकेगा । इससे मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ, इनसे मेरे योग के ऐश्वर्यवाले रूप को देख ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

दोहा—हे राजन कहि यौंहि तब, योगेश्वर हरिराय ।
रूप ईश्वरी पार्थ को, अद्भुत दियो दिखाय ॥ ९ ॥

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि, हे राजन् ! यह कहकर महायोगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर्य रूप दिखाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

दोहा—बहुत नेत्र मुखहूँ बहुत, देखे अचरज होहिं ।
दिव्य शस्त्र धारण किये, दिव्य विभूषण सोहिं ॥ १० ॥

उस रूप में अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं, उनके दर्शन अनेक भाँति के और अद्भुत हैं, उनपर अनेक दिव्य आभूषण हैं और अनेक प्रकार के दिव्य आयुध हैं ॥ १० ॥

श्री विराट स्वरुप दर्शनम् ।



भार्गव भूषण प्रेस, बनारस ।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दोहा-दिव्य हार बसननि धरे, दिव्य सुगंध लगाय ।
देव अनन्त अनेक मुख, सब अचरज के काय ॥ ११ ॥

हे धृतराष्ट्र ! वह रूप दिव्यमाला और दिव्यवस्त्र धारण किये हैं । अनेक चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों को लगाये हैं । वह रूप सब प्रकार से आश्चर्यकारक प्रकाशयुक्त और अन्त-रहित हैं । उसमें चारों ओर मुखही मुख है ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाःसदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

दोहा-एक साथ आकाश में, सहस्र सूर्य उगिजाय ।
उनकी जोति एकत्र मिलि, प्रभु दुति सम ह्वै नाय ॥ १२॥

जो आकाश में सहस्र सूर्य का प्रकाश एक साथ मिल जाय, तो भी वह कान्ति उस महापुरुष की कान्ति के समान कदाचित् ही हो सकती है ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

दोहा-देवदेवकी देह में, पेख्यो पाण्डव राय ।
भिन्न २ थापित भले, जुरयो जगत् समुदाय ॥ १३ ॥

तब अर्जुन ने उस देवादिदेव के शरीर में एक ही स्थान पर अनेक प्रकार से स्थित जगत् को देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

दोहा—ताको तब विस्मय भयो, रोमहर्ष हूँ होय ।
श्रीकृष्णहिं परनाम करि, बोल्यो अस पुनि सोय ॥ १४ ॥

तब उस विश्वरूप का दर्शन करके अर्जुन को बड़ा विस्मय हुआ और शरीर के रोम खड़े हो गये, और वह हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण से कहने लगा ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

दोहा—देखत हौं तव देह में, सब थिर चर सुर नाग ।
कमलासन ऋषि ईश पुनि, धन्य धन्य मो भाग ॥ १५ ॥

हे देव ! मैं आपके देह में कमलासन ब्रह्मा, महादेव आदि सम्पूर्ण देवताओं को, जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज्ज जीवों को, तथा सम्पूर्ण दिव्य सर्पों को देखता हूँ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

दोहा—बहुत बाहु उदरौ बहुत, नेत्र बहुत बहु शीश ।
देखौं आदि न अन्त मधि, तन अनन्त जगदीश ॥ १६ ॥

हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! आपके देह में सब जगह मुझे अनेक भुजा, अनेक उदर, अनेक मुख, अनेक नेत्र और

अनन्त रूप दिखाई देते हैं। आपका आदि, मध्य वा अन्त कहीं भी दिखाई नहीं देता है ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

दोहा-मुकुट सीस कर चक्र गद, तेजराशि भगवान।
दृगनि चौंध चितवनि लगत, हौं रवि अनल समान ॥ १७ ॥

हे भगवन्! मुझे ऐसा दिखाई देता है कि, आप किरीट, गदा और चक्र धारण किये हैं। आप तेजपुञ्ज हैं। चारों ओर से आप दीप्तिमान् हैं। आपका अग्नि-सूर्य के ऐसा प्रकाश है कि, देखने से आँखे चकाचौंध में पड़ती हैं। आपके अपरिमित रूप दिखाई देते हैं ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

दोहा-परमाक्षर ज्ञातव्य तुम, हो जग परम निधानु।
अविनाशी पालक धरम, तुमहिं सनातनु जानु ॥ १८ ॥

हे कृष्ण! मुमुक्षुओं से जानने योग्य अक्षर परब्रह्म आप ही हो। इस संसार के परम आधार आप ही हो। आप ही सनातन धर्म के रक्षक हो। आप अविनाशी हो और आप ही सनातन पुरुष हो, यह मैं समझता हूँ ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

दोहा—आदि अन्त मधिरहित तुम, बहु भुज रवि शशि नैन ।
राउर मुख दीपति अगनि, जगत प्रकाशत ऐन ॥ १९ ॥

हे कृष्ण ! मैं देखता हूँ कि आपका आदि, मध्य और अन्त कुछ नहीं है । आपका पराक्रम अनन्त है, आपकी भुजायें असंख्य हैं, सूर्य और चन्द्रमा आपके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि के समान आपके मुख में चमक है और अपने तेज से इस सम्पूर्ण संसार को आप तृप्त कर रहे हो ॥ ११ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

दोहा—गगन भूमि मधि सब दिशा, व्यापौ तुम इक तात ।
अद्भुत रूप सुउग्र लखि, तीनों लोक कँपात ॥ २० ॥

हे महात्मन् ! आकाश और पृथ्वी के बीच में जो अन्तरिक्ष है, इस सबमें, तथा सम्पूर्ण दिशाओं में भी अकेले आप ही व्याप्त हो रहे हैं । आपके इस उग्र और अद्भुत रूप को देखकर तीनों लोक व्यथित हो गये हैं ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः ।
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

दोहा-तोमें पैठत देवगण, विनवत कोउ भय मान ।
स्वस्ति कहैं ऋषि सिद्ध सब, तेरो करि गुणगान ॥ २१ ॥

हे कृष्ण ! ये देवताओं के समूह भय से आप के शरण आये हैं । कितने ही भयभीत होकर दूर खड़े हाथ जोड़कर आपकी प्रार्थना करते हैं । महर्षि और सिद्धों के झुण्ड स्वस्ति कहकर अनेक प्रकार से आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

दोहा-रुद्र साध्य आदित्य वसु, अश्विनि विश्वेदेव ।
साध्य यक्ष गन्धर्व पुनि, मरुतन के सब भेव ॥
पितर उष्मपा नाम जे, दैत्य विरोचन आदि ।
ए सब विस्मै पाय के, देखत तोहिं अनादि ॥ २२ ॥

हे कृष्ण ! एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्टवसु, साध्य नामक देवता, विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण, उष्मपा नामक पितर और गन्धर्व, यक्ष, असुर तथा सिद्धों के समूह ये सब विस्मित होकर तुम्हें देखते हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

दोहा—रूप बड़ो मुख नयन अरु, भुजपद अरु उदराहु ।
देखि भयानक दाढ़ बहु, विथित लोक अरुहाहु ॥२३॥

हे महाबाहो ! आपके असंख्य मुख, नेत्र, उरू, चरण और उदर हैं । तथा असंख्य दाढ़ों से आपका रूप बड़ा विकराल दिखाई देता है । इस भयङ्कर रूप को देखकर सब लोक डर गये हैं, और मैं भी डर के मारे व्याकुल हो रहा हूँ ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

दोहा—चरण धरा आकाश शिर, दीरघ मुख दृग ज्वाल ।
देखि तुमहिं धीरज नसो, भयो अशान्त विहाल ॥ २४ ॥

आपका, आकाश को स्पर्श करनेवाला, प्रकाशमान, अनेक वर्णों से युक्त, बड़ा विस्तीर्ण मुख और प्रज्वलित बड़े बड़े नेत्रवाले, इस रूप को देखकर किसी प्रकार से भी धीरज और शान्ति ग्रहण नहीं कर सकता हूँ, मेरा मन बड़ा घबड़ा गया है ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दोहा—काल अगनि सम दाढ़युत, मुख देखत भय होइ ।
दिग्भ्रम भा शांतिहुँ नसी, करहु कृपा प्रभु जोइ ॥ २५ ॥

हे देवेश ! कालाग्नि के सदृश बड़े विकराल दाँतवाले आपके मुखों को देखकर मैं इतना डर गया कि मुझे दिशाओं

का ज्ञान नहीं रहा है। न मुझे शान्ति प्राप्ति होती है। इससे हे जगन्निवास! आप मुझ पर प्रसन्न होइये ॥ २५ ॥

अमी हि त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

दोहा—द्रोण कर्ण भीषम सहित, सब नृपतिन समुदाय।
धृतराष्ट्रहु के पुत्र अरु, योद्धा मोर सहाय ॥ २६ ॥

हे कृष्ण! सब राजाओं के सङ्ग के सहित धृतराष्ट्र के दुर्योधनादिक पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य और सूतपुत्र कर्ण आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं। और हमारे भी शिखण्डी, धृष्टद्युम्नाद बड़े बड़े मुख्य योधा आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

दोहा—भयकारक तव मुखहि यहि, सबै गिरत हैं आय।
सिर टूटे दाढ़न तरै, कोउ रहै लपटाय ॥ २७ ॥

ये सब आपके कराल दाँतवाले मुखों में जल्दी २ प्रवेश कर रहे हैं, इनमें कितनों के शिर चूर्ण हो गये हैं और वे आपके दातों के मध्य में उलझ रहे हैं ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।

तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

दोहा–ज्यों सरिता को नीर वह, गिरत सिन्धु में जाय।
वीर नृपति त्यों तुव वदन, मोहि परत सब धाय ॥ २८ ॥

हे कृष्ण! जैसे नदियों की धारा समुद्र ही की ओर दौड़ती है, वैसे ही ये नरवीर तुम्हारे जाज्वल्यमान मुखों में शीघ्रता से प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

दोहा–जैसे दीपत अग्नि मह, प्रविशि पतङ्ग नशाय।
तस तुरन्त निज नाशहित, तुव मुख लोक समाय ॥ २९ ॥

हे कृष्ण! जैसे अत्यन्त वेगवाले पतङ्ग अपने नाश के लिये प्रदीप्त अग्नि में घुसे जाते हैं, ऐसे ही ये सब लोग अपने नाश के लिये आपके मुख में घुसे जा रहे हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

दोहा–दीप्त मुखनि ते ग्रसत हौं, सब लोकनि को भाय।
उग्रकान्ति तुव कृष्ण है, अतिशय लोक तपाय ॥ ३० ॥

हे कृष्ण! आप अपने प्रज्वलित मुखों से सम्पूर्ण लोकों को चारों ओर से ग्रसते हुए चाटे जाते हो, और आपकी उग्र

कान्ति सब जगत् को अपने तेज से परिपूरित करके तृप्त कर रही है ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

दोहा—उग्ररूप कहु कौन तुम, प्रनमो देउ वर देव।
जानि चहौ तोहि आदि नर, अरु तुव चरितनि भेव ॥ ३१ ॥

हे कृष्ण! आप ऐसे उग्र रूपवाले कौन हो? सो कहो मैं आपको नमस्कार करता हूँ, मैं आपकी प्रवृत्ति अर्थात् आपके विषय में कुछ भी नहीं जानता हूँ। इससे मैं आप आदिपुरुष के विषय में जानना चाहता हूँ। हे देवश्रेष्ठ! आप कृपा करके कहिये ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

दोहा—प्रबल काल हौं सब भखौं, करिहौं लोक संहार।
तू नहिं मारे तबउ सब, योध मरें निरधार ॥३२॥

हे अर्जुन! मैं लोकक्षयकारी प्रवृद्ध काल हूँ। मैं यहाँ लोकों का संहार करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। ये बड़े बड़े योद्धा, जो सेनाओं में खड़े हुए हैं, जो तू इनको नहीं मारेगा तो भी ये तो अवश्य मरेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

दोहा—ताते उठि रण जीत रिपु, ले कीरति बड़राज ।
मैं हनि राख्यो प्रथम इन, हों निमित्त तू आज ॥ ३३ ॥

इससे हे अर्जुन ! तू कमर कसकर खड़ा हो जा, और शत्रुओं को जीत कर यश ले, फिर इस समृद्ध राज्य को भोग । ये सब तो मुझसे पहिले ही मारे हुए हैं । हे सव्यसाचिन् ! तू निमित्तमात्र हो जा ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

दोहा—भीष्म द्रोण अरु जयद्रथहिं, करणआदि नृप और ।
मेरे मारे मार लरि, जीति शत्रु इक ठौर ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी शूर वीर मुख्य मुख्य योद्धा मुझसे मारे हुये हैं । तू इन मेरे मारे हुए को मार, भय मत कर, लड़, तू रण में अवश्य शत्रुओं को जीतेगा ॥ ३४ ॥

सञ्जय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५॥

दोहा-वचन सुने श्रीकृष्ण के, अर्जुन कंपतिगात ।
करि प्रणाम भयभीत होइ बोल्यो गदगद बात ॥ ३५ ॥

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन्! केशव की ऐसी बातें सुन कर अर्जुन काँपने लगा, हाथ जोड़ कर बार बार नमस्कार करता था और डरके मारे व्याकुल हो फिर नमस्कार कर गद्गद वाणी से कृष्ण से कहने लगा ॥३५॥

अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

दोहा-नाम लियेते जग उचित, हर्षहिं करि अनुराग ।
नमत सिद्ध तोको दिशनि, राक्षस जात जु भाग ॥ ३६ ॥

हे हृषीकेश! आपके नाम का जपकर यह सब जगत् हर्षित होता है और आपमें अनुराग करता है। राक्षस भयभीत होकर दसो दिशाओं में भागे फिरते हैं और सम्पूर्ण सिद्धों के समुदाय आपको नमस्कार करते हैं, यह योग्य ही है॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

दोहा—क्यों न नवैं तुमको सबै, ब्रह्मा के करतार ।
जगतईश अच्चर अनत, सदसत् के हो पार ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! तुमको सब लोग नमस्कार क्यों न करें, क्योंकि आप तो ब्रह्मा से भी बड़े और उनके आदिकर्ता हैं। तथा सत् और असत् के मूल कारण, अक्षर और अविनाशी हैं ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

दोहा—पुरुष पुरातन आदि हौ, तुमहीं जगत निधान ।
तुमहीं जग विस्तर कियो, ज्ञाता तुमही ज्ञान ॥ ३८ ॥

हे कृष्ण ! आप आदिदेव, पुराणपुरुष, इस सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र आश्रय, इस सम्पूर्ण विश्व के ज्ञाता और जानने योग्य वस्तु सब आपही हो। परमधाम, मोक्षस्थान भी आपही हो। यह सम्पूर्ण विश्व आपके अनन्त रूप से व्याप्त है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

दोहा—वायु प्रजापति अग्नि यम, वरुण पितामह चन्द ।
बार बार सहसनि नमहुँ, औरो अधिक मुकुन्द ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण ! वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, ब्रह्मा और पितामह भी आपहीं हैं। आपको सहस्रबार नमस्कार है और फिर भी आपको अधिक अधिक नमस्कार है ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

दोहा—आगे पीछे सब दिशनि, प्रनमौं तुमहिं रमेश ।
अमित पराक्रम वीर्ययुत, सबके व्यापक ईश ॥ ४० ॥

हे सर्वेश्वर ! आपको सन्मुख से नमस्कार है। पीछे से नमस्कार है और चारों ओर से नमस्कार हैं। आप अनन्त वीर्य और अनन्त पराक्रम से युक्त हो, आप सबमें व्यापक हो, इसी से सर्व हो ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

दोहा—सखा जानि जो मैं कह्यो, यादव कृष्ण व मीत ।
तुम महिमा जाने विना मूरखता गहि प्रीति ॥ ४१ ॥

मैं आपको अपना सखा जानकर जो आपको हे यादव ! हे कृष्ण ! हे सखा ! इत्यादि ढिठाई से कहा करता था, इसका यह कारण था कि मैं आपकी महिमा को नहीं जानता था,

वह मेरी असावधानी थी, अथवा स्नेह के वश हो मैं आपसे ऐसा कहा करता था ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

दोहा–भोजन शयन विहार में, कियो अनादर जोय ।
छमिये तिनहिं अचिन्त्य बल, हे अच्युत मृदु होय ॥ ४२ ॥

हे अच्युत ! खेलने के, सोने के, बैठने के वा भोजन के समय एकान्त में अथवा बहुत लोगों के सन्मुख, जो मैंने हँसी से आपका अनादर किया हो, सो मैं आपसे क्षमा कराता हूँ। क्योंकि आपका प्रभाव अप्रमेय है ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रमितप्रभावः ॥ ४३ ॥

दोहा–पिता चराचर जगत के, पूज्य तुमहिं गुरु ईश ।
तुम पटतर कोऊ नहीं, अधिक कहा जगदीश ॥ ४३ ॥

हे अमित प्रभाव ! आप इस चराचर जगत् के पालन-कर्ता पिता हो, आपही पूज्य और महान् गुरु हो, तीनों लोक में आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक कैसे कोई हो सकता है ? ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

दोहा-करों दण्डवत तोहिं प्रभु, क्षमो दोष जो होहि ।
ज्यों पितु सुतको पति प्रियहिं, मित्र मित्र को जोहि ॥४४॥

हे देव ! आप ईश्वर हो, मैं साष्टाङ्ग दण्डवत करता हूँ । आप मुझ पर प्रसन्न होइए, आप मेरे अपराधों को ऐसे क्षमा कीजिये, जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के और पति अपनी स्त्री के अपराधों को क्षमा कर देता है ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

दोहा-पहिलो रूप दिखाइये, हौं सहस्रुँवा जोइ ।
अद्भुत रूप निहारि तुव, रोम हर्ष भय होइ ॥ ४५ ॥

हे कृष्ण ! जिसे पहले कभी नहीं देखा था, ऐसे आपके अद्भुत रूप को देखकर मैं बड़ा हर्षित हुआ हुँ, और भय के मारे मेरा मन व्याकुल हो रहा है । इससे मुझको वही अपना पहिला रूप दिखाइये । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप मुझपर प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

दोहा—मुकुट विराजै सीस पर, गदा चक्र इन्ह हाथ ।
जार भुजा धारी तुमहिं, देखि चहौं जगनाथ ॥
हे जगमूर्ति सहस्र कर, रूप पुरानो मोहिं ।
दरसावहु करिकै दया, प्रनमत हौं मैं तोहि ॥ ४६ ॥

हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! मैं आपका वही किरीट मुकुटवाला गदाचक्रधारी रूप देखना चाहता हूँ । अत एव वही पहिला सा चतुर्भुजरूप धारण कीजिये ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

दोहा—आत्मयोग ते तुष्ट हैं, रूप दिखायो जोइ ।
तेजोमय आद्योत विनु, प्रथम न देख्यो कोइ ॥ ४७ ॥

भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! तुझपर अत्यन्त प्रसन्न होकर मैंने आत्मयोग से अपने तेजोमय अनन्त और परम आदि विश्वरूप का तुझे दर्शन कराया है । तेरे सिवाय अब तक इस रूप को किसी ने भी नहीं देखा है ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्यमहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

दोहा—वेद यज्ञ अध्ययन तप, अग्निहोत्र करि दान ।
इहि विधि मेरे रूप को, तुम विनु लखै न आन ॥ ४८ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! मेरे इस रूप को तेरे सिवाय कोई वेदाध्ययन, यज्ञसाधन, दान, अग्निहोत्रादिक कर्म, वा उग्र तप करके देखना चाहे, तो भी नहीं देख सकता है ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

दोहा-ऐसो घोर सरूप लखि, मत डरु मत लहु मोहु ।
भय तजि चित्त प्रसन्न करि, पूर्व रूप लख ओहु ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे इस घोर रूप को देखकर तू व्यथित और व्याकुल मत हो । निडर होकर प्रसन्न चित्त से मेरे उस पहिले रूप को फिर देख ॥ ४९ ॥

सञ्जय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

दोहा-ऐसे कहि गहि सौम्य वपु, पहिलो रूप दिखाय ।
आश्वासन ताको कियो, भय को दियो हटाय ॥ ५० ॥

सञ्जय ने कहा कि हे धृतराष्ट्र ! श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कह के अपना पहिला रूप फिर दिखाया, और उस महात्मा ने अपना शान्त रूप फिर धारण कर, विश्वरूप देख डरे हुये अर्जुन को आश्वासन किया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

दोहा—सौम्य मनुष्य सरूप तुव, निरखि जनार्दन देव ।
ह्वै सचेत प्रकृती गही, छूट्यो मन को भेव ॥ ५१ ॥

अर्जुन कहने लगे कि हे जनार्दन ! आपका यह सौम्य मनुष्यरूप देखकर अब मैं सावधान हो गया हूँ । मेरा मन ठिकाने आ गया है और सब भय दूर हो गया है ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

दोहा—दर्शन योग्य न रूप यह, जो देख्यो तैं मित्त ।
यहि स्वरूप को देवता, देख्यो चाहत नित्त ॥ ५२ ॥

भगवान् बोले—हे अर्जुन ! जो मेरा अत्यन्त दुर्दर्श रूप तैंने देखा है, इस रूप के देखने के लिये देवता भी सदा आकांक्षा करते हैं ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

दोहा—दान यज्ञ तप विधि किये, देखि सकै नहिं कोय ।
जैसे पारथ तू अबै, मोको रह्यो है जोय ॥ ५३ ॥

हे अर्जुन ! मेरा जैसा रूप तुमने देखा है, ऐसे मेरे रूप को वेदाध्ययन, तपस्या, दान वा यज्ञादि कर्म द्वारा कोई नहीं देख सकता है ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

दोहा—करै अनन्य सुभक्ति जो, देखि सकै सो भाय ।
नीके जानै मोहिं सो, मोमें प्रविशै आय ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! हे परन्तप ! मेरे ऐसे विश्वरूप को मनुष्य अनन्य भक्ति से भलीभाँति जान सकते हैं, अथवा देख सकते हैं और इसमें लीन हो सकते हैं ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

दोहा—मो निमित्त कर्मनि करै, भक्त मोर तजि सङ्ग ।
बैर तजै तब जीव सों, सो प्रविशत मम अङ्ग ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य मेरी ही प्राप्ति के लिये लौकिक वा वैदिक कर्म करता है, मुझको अपना पुरुषार्थ मानता है, मुझमें भक्ति करता है, सब सांसारिक संगों से मुख मोड़ चुका है और प्राणीमात्र से वैर नहीं रखता है। वही मुझको प्राप्त हो सकता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शन-योगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥



अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

दोहा–जो सेवहिं तुमको भगत, सगुणरूप जो नित्त ।
अक्षर ब्रह्महिं भजहिं वा, कौन योग कहु मित्त ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा कि हे भगवन्! जो निरन्तर भक्ति में तत्पर होकर सदा आपके सगुण विश्वरूप की उपासना करते हैं, वे उत्तम योगी हैं। अथवा जो अविनाशी अव्यक्त ब्रह्म मानकर आपकी उपासना करते हैं, वे उत्तम योगी हैं ॥ १ ॥

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

दोहा–मोहि में चित्त लगाय नित, सेवत हैं मोहिं जोइ ।
अति श्रद्धा जिनके हिये, उत्तम योगी सोइ ॥ २ ॥

श्रीकृष्णजी बोले कि हे अर्जुन! जो निरन्तर भक्तियोग से युक्त होकर मुझही में मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक मेरी उपासना करते हैं, वे ही मुझको श्रेष्ठ योगी मालूम होते हैं ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

दोहा–जे अक्षर अव्यक्त अरु, अप्रत्यक्ष अचिन्त्य ।
व्यापक मायाधार मम, रूप भजहि जो नित्य ॥ ३ ॥

जो मुझे अक्षर (अविनाशी), अनिर्देश्य (जो कहने में न आवे) अव्यक्त (इन्द्रियों से अगोचर) सर्वत्रग (सर्वत्र विद्यमान) अचिन्त्य (जो ध्यान में न आवे) कूटस्थ (मायाप्रपञ्च का आधारस्वरूप) अचल (व्यापाररहित) और ध्रुव (नित्य और स्थित) जानकर उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

दोहा-सब इन्द्रिन को रोकि करि, सबमों बुद्धि समान ।
सब जीवन को हित करत, मोहिं मिलै तू जान ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! अपनी सब इन्द्रियों को वश में करके प्राणियों के हित को करनेवाले, सबको समान बुद्धि से देखने वाले और जो मेरे ऊपर कहे हुए रूप की उपासना करते हैं। वे ही मुझे प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

दोहा-तिन्हैं क्लेश बहु होत है, ब्रह्म रमायो चित्त ।
रूप नाम जाके नसो, दुःख करि लहियत मित्त ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! जिनका चित्त मेरे अव्यक्त रूप में आसक्त है, उनको क्लेश अधिक होता है । क्योंकि देहधारियों को अव्यक्त की उपासना करना महान् कष्टकारक है ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

दोहा—जे सब कर्म समर्पि मोहिं, तत्पर मों में होहिं।
ध्यावत योग अनन्य सो, सदा भजत हैं मोहिं ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! जो मुझमें तत्पर होकर सम्पूर्ण कर्मों में मेरे निमित्त अर्पण करते हैं और अनन्य योगद्वारा ध्यान करते हुए मेरा स्मरण करते हैं ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

दोहा—मृत्युरूप भव सिन्धु ते, तिनको करत उधार।
मोमें चित राख्यो जु उन, दृढ़ मति सों निरधार ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! जो मुझ ही में मन लगा करके उपासना करते हैं, उनको मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसारसागर से बचा लेता हूँ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

दोहा—मोहीं में मन बुद्धि रखु, मोहीं से करु नेह।
या आगे मो देह में, बसिहैं। नहिं सन्देह ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! इससे तू अपना मन मुझमें लगा दे, और अपनी बुद्धि मुझ ही में स्थापित कर, इसके बाद तू निश्चय मुझ ही में निवास करेगा ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

दोहा—यदि तू मोमें नहिं सकत, मन अपनो थिर राखि।
तो अर्जुन मों मिलन को, पुनि पुनि करु अभिलाषि ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय ! जो तू अपने चित्त को स्थिर करके मुझमें नहीं लगा सकता है, तो इस चञ्चल चित्त को

विषयों से रोककर अभ्यास द्वारा मेरी प्राप्ति की इच्छा करो ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

दोहा-जो अभ्यास न करि सकै, मोरे हित करु कर्म ।
मोरे हित कर्महु करत, सिद्ध होइ तजु धर्म ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो तुम अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तो मेरी प्रसन्नता के लिये शुभकर्मों को करो । मेरी प्रसन्नता के लिये कर्मों को करने से भी तुझे सिद्धि प्राप्त हो जायगी ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

दोहा-जो तू यह नहिं करि सकै, मो सर नहिं अनुराग ।
सबै कर्म के फलन को, अर्जुन दे तू त्याग ॥ ११ ॥

जो तुम यह भी न कर सके, तो अपनी इन्द्रियों को वश में करके एकमात्र मेरा आश्रय लेकर सम्पूर्ण कर्मों के फल की वासना को त्याग दे ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् १२

दोहा-ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यास ते, ताते ध्यान विशेष ।
फल त्यागन ताते अधिक, ताते शान्तिहि लेख ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, कर्मफल का त्याग करने पर शीघ्र ही शान्ति मिल जाती है ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

दोहा—वैर न काहू सो करै, मित्र दयालु न होय।
अहङ्कार ममता रहित, दुख सुख सम क्षमि जोय ॥ १३ ॥

हे अर्जुन! जो प्राणिमात्र से द्वेष नहीं रखता है, सब से मैत्रीभाव रखता है, सब पर करुणा करता है, ममता और अहङ्काररहित है, दुःख तथा सुख को समान जानता है और सब पर क्षमा करता है ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

दोहा—सन्तोषी योगी सदा, नियमी दृढ़ मति जोय।
मन बुद्धि मो में धरै, भक्त जु प्यारो मोय ॥ १४ ॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य थोड़े में सन्तोष करता है, सदा योग में लीन रहता है, अपनी आत्मा को यम, नियम करके वश में रखता है, मेरे विषय में दृढ़ निश्चय वाला होता है, मन और बुद्धि को मुझही में लगा देता है, वह भक्त मुझे प्यारा लगता है ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

दोहा—जो काहू सो नहिं डरै, भय औरहिं नहिं देय।
हर्ष क्रोध भय त्रास तजि, प्रिय मोको सो होय ॥ १५ ॥

जिससे कोई प्राणी त्रास नहीं पाता है, और जो स्वयं किसी प्राणी से त्रास नहीं पाता है। जो हर्ष, क्रोध, भय और त्रास से रहित है। वह मेरा अत्यन्त प्यारा है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

दोहा—चाह रहित शुचि दक्ष पुनि, क्लेश न तिनै उदास ।
सब उद्योगन को तजै, सो है मम प्रिय दास ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! जो किसी वस्तु की चाह नहीं करता है, पवित्र रहता है, चतुर है, शत्रु-मित्र से रहित है, जिसको किसी प्रकार की व्यथा नहीं है और जिसने सब प्रकार के उद्यम का त्याग किया है, वह भक्त मुझे प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

दोहा—हर्ष शोक अच्छा बुरा, पुण्य पाप तजि जोय ।
भक्ति करै मम पार्थ सुनु, सो अति प्रिय मोहिं होय ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! जो प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होता है, अप्रिय वस्तु से द्वेष नहीं करता है, जो इष्ट वस्तु के नष्ट होने पर शोक नहीं करता है, अप्राप्य की इच्छा नहीं करता है, पुण्य और पाप का परित्याग कर देता है, वही भक्त मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

दोहा—शत्रु मित्र को सम लखै, सहै मान अपमान ।
शीत उष्ण सुख दुख सहै, सङ्ग करै नहिं आन ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! जो शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सर्दी, गर्मी तथा सुख-दुःख को समान समझता है और किसी में आशक्त नहीं होता है, वही मुझे प्रिय है ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१९॥

दोहा—स्तुति निन्दा है एकसी, संतोषी रह मौन ।
गृह न रहै थिर मति रहै, है मम प्रिय नर तौन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! जो स्तुति और निन्दा को समान जानता है, कम बोलता है, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहता है, किसी एक स्थान पर घर बना कर नहीं रहता है और जिसकी बुद्धि स्थिर है, वही भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

दोहा—धर्म रूप अमृत यहै, जो सेवहिं मन लाय ।
श्रद्धायुत मेरे भगत, ते मोहिं अति प्रिय भाय ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! जो कोई श्रद्धापूर्वक मेरे आश्रित भक्त इस यथोक्त धर्मामृतस्वरूप भक्तियोग की उपासना करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥



 अथ त्रयोदशोऽध्यायः 

अर्जुन उवाच ।

**प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥१॥**

दोहा-प्रकृति पुरुष अरु क्षेत्र का, को क्षेत्रज्ञ कहाय ।
ज्ञान ज्ञेय जानन चहौं, कहिये केशवराय ॥ १ ॥

अर्जुन बोले कि हे केशव ! मैं प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान और ज्ञेय को जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥२॥**

दोहा-यह शरीर कौन्तेय सुनु, क्षेत्र कहावत चारु ।
जानत हैं जो देह को, सो क्षेत्रज्ञ विचारु ॥ २ ॥

श्रीकृष्णजी बोले कि हे अर्जुन ! यह शरीर संसार के भोगरूपी दुःख के उपजने की भूमि है, इससे क्षेत्र कहलाता है । जो मनुष्य इसे जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ २ ॥

**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ३ ॥**

दोहा-तू क्षेत्रज्ञ विचार मोहिं, सब क्षेत्रन किय वास ।
ज्ञान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का, मेरो मत सो खास ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान और मेरे मत में क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मोक्ष का कारण और वास्तविक ज्ञान है ॥ ३ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥४॥

दोहा–क्षेत्र जहाँ ते है भयो, जो है जैसे भाय ।
क्षेत्रज्ञ हुँ को रूप बल, कहुँ संक्षेप सुनाय ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! क्षेत्र जिस जड़ पदार्थ से बना हुआ है, जिन दर्शनादि स्वभाव और इच्छादि धर्मों से युक्त है, जिन इन्द्रियादिक विकारों से युक्त है, जिस प्रकृतिपुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है, वह बात और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, अचिन्त्य ऐश्वर्य और प्रभाव आदि सब मैं संक्षेप से कहता हूँ, तू सावधान होकर सुन ॥ ४ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥

दोहा–ऋषिन कहे बहु भाँति जे, सब वेदनहूँ भाखि ।
हेतुवाद निहचै जु करि, ब्रह्मसूत्र हूँ साखि ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का स्वरूप वसिष्ठादि ऋषियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है । ऋक, यजुः और सामादि वेदों ने जिसका स्वरूप अनेक भाँति से निरूपण किया है, तथा व्यासकृत ब्रह्मसूत्रों द्वारा हेतुमान् निश्चित बातों से जिसका स्वरूप वर्णन किया गया है, उसे मैं संक्षेप से कहता हूँ ॥ ५ ॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥६॥

दोहा-महाभूत अहङ्कार बुद्धि, अरु प्रकृती हू जानि ।
एकादश इन्द्री विषय, शब्दादिक हू मानि ॥ ६ ॥

पञ्चमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व, अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति, दश इन्द्रियाँ अर्थात् जिनमें पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय, ये ही क्षेत्र के चौबीस तत्त्व हैं ॥ ६ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

दोहा-इच्छा सुखदुख चेतना, द्वेषधीरता जानु ।
यह मैं कह्यो संक्षेप सों, क्षेत्र याहि तू मानु ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, सङ्घात (शरीर), चेतना (ज्ञानात्मक अन्तःकरण की वृत्ति), धृति (धीरज), इन सबसे यह क्षेत्र बना है, इस भाँति अपने विकारों के सहित क्षेत्र का मैंने संक्षेप से वर्णन किया है ॥ ७ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥

दोहा-मान दम्भ हिंसा तजै, क्षमा सरलता साधि ।
गुरुसेवा शुचिताहु पुनि, थिरता आत्म समाधि ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! अमानित्व (मान की इच्छा न करना), अदम्भित्व(दम्भ न करना), अहिंसा (प्राणीमात्र को पीड़ा न देना), क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (सरल स्वभाव रखना), गुरुसेवा, पवित्रता, आत्मा को वश में रखना ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥

दोहा-विषयन सों वैराग्य धरि, अहङ्कार तजि देहि ।
जन्म मृत्यु व्याधी जरा, दुःख दोष चित लेहि ॥ ९ ॥

इन्द्रियों के रूप, रस, गन्धादि विषयों में वैराग्य रखना, अहङ्कार न होना, जन्म, मृत्यु, बढापा, रोग और दुःख इनके दोषों को बार बार विचारना ॥ ९ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१०॥

दोहा-प्रेम न पुत्र कलत्र सों, उन दुःख सुख नहिं मान ।
इष्ट अनिष्ट सँयोग लहि, मन को रखै समान ॥ १० ॥

पुत्र, स्त्री, घर तथा धनादिकों में आसक्त न होना, स्त्री, पुत्रादिकों के सुख दुःख को न मानना और चाही वा अनचाही जैसी वस्तु दैवयोग से आ मिले, उसमें चित्त को सदा समान रखना ॥ १० ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११ ॥

दोहा-अटल भक्ति मों में धरै, आतम दृष्टि मिलाइ ।
वास करै एकान्त में, जन समाज नहिं जाइ ॥ ११ ॥

मुझमें अनन्य योग अर्थात् सर्वत्र आत्मदृष्टि से निश्चल भक्ति होना, एकान्त स्थान में रहना और सांसारिक विषयों में लीन मनुष्य के सङ्ग में अरुचि रखना ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥१२॥

दोहा-ज्ञान अध्यातम नित करै, तत्त्व ज्ञान हूँ देखि ।
ज्ञान यहै इनसे अवर, अज्ञानहुँ कर लेखि ॥ १२ ॥

अध्यात्मज्ञान में सदा तत्पर रहना और तत्त्वज्ञान के अर्थरूपी मोक्ष का विचार करना, यह ज्ञान है और इससे विपरीत मान, दम्भ आदि अज्ञान है ॥ १२ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३॥

दोहा-ज्ञेय पदारथ कहत हों, अमृत होय जेहि जान ।
वह अनादि परब्रह्म हैं, सत न असत तेहि मान ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! मैं तुझसे ज्ञेय वस्तु कहता हूँ, जिसके जानने से मनुष्य मुक्ति को पाता है, वह अनादि परब्रह्म है, वह न सत् है न असत् है ॥ १३ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥

दोहा-सब ओर कर चरण मिल, मुख दृग कानहु मान ।
व्यापि रह्यो सब जगत में, ताहि दशो दिश जान ॥१४॥

हे अर्जुन ! उस परब्रह्म के सब जगह हस्त और पाद हैं, उसके सब जगह नेत्र, शिर, मुख और कान हैं, वह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो रहा है ॥ १४ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१५॥

दोहा-इन्द्रिन रहित तऊ करै, इन्द्रिय अरु गुन भास ।
रह असक्त आश्रय सबनि, निर्गुण गुण न प्रकाश ॥१५॥

वही नेत्रादि सब इन्द्रियों और रूपादि विषयों का प्रकाशक है, सब इन्द्रिय और विषयों से रहित है, सङ्ग रहित

है, सबका आधार है, सत्वादि गुणों से रहित तथा उन गुणों का भोक्ता है ॥ १५ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १६ ॥

दोहा—चर थिर जीवन के रहैं, अन्तर बाहिर सोय ।
सूक्षम है तासों अलख, दूर निकट पुनि होय ॥ १६ ॥

वही सम्पूर्ण चराचर प्राणियों के भीतर और बाहर वर्तमान है, स्वयं चराचर स्वरूप है, अत्यन्त सूक्ष्मरूप होने से वह जानने में नहीं आ सकता है, इससे अधिक, दूर भी है और अत्यन्त निकट भी है ॥ १६ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १७ ॥

दोहा—वह अभिन्न सब जीव में, भिन्न समान लखाय ।
पालत नासत जग सकल, पुनि आपुहि उपजाय ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! वह सम्पूर्ण प्राणियों में कारणरूप से अभिन्न है, परन्तु भिन्न के समान स्थित है। वह सम्पूर्ण प्राणियों का पालक है। सबका संहारक और सबका कर्त्ता है ॥ १७ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १८ ॥

दोहा—सूर्य आदि की ज्योति सों, अन्धकार ते पार ।
ज्ञान ज्ञेय ज्ञानहिं लखिय, सबके हिय थिरयार ॥ १८ ॥

जो सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि ज्योतियों का भी प्रकाशक है, तम जो अज्ञान उससे परे है, ज्ञानस्वरूप है, ज्ञेय अर्थात्

जानने के योग्य है। ज्ञान साधनों से जाना जाता है और प्राणीमात्र के हृदय में प्रेरकरूप से स्थित है॥ १८॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १९॥

दोहा-क्षेत्र ज्ञान अरु ज्ञेय मैं, तोको दियो बताय।
इनको जाना जो भगत, लेय मोहि सो पाय॥ १९॥

हे अर्जुन! इस प्रकार मैंने क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों का वर्णन संक्षेप से तेरे सन्मुख किया है, इसे जानकर मेरे भक्त मेरे भाव को प्राप्त हो जाते हैं॥ १९॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥२०॥

दोहा-प्रकृती पुरुष अनादि तू, अर्जुन दोऊ जानि।
गुण विकार सब प्रकृति ते, उपजै अस ले मानि॥२०॥

हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि जानो, तथा देह, इन्द्रिय आदि विकार और सुख, दुःख तथा मोहादिक गुणों को प्रकृति से ही उत्पन्न जानो॥ २०॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥२१॥

दोहा-कारज कारन मों करन, शक्ति प्रकृति ते होय।
सुख अरु दुख के भोग मों, पुरुष निदानहु सोय॥२१॥

हे अर्जुन! कार्य, शरीर और कारण इन्द्रियों के कर्तृत्व में प्रकृति ही हेतु है और सुख-दुःखों का भोगने वाला पुरुष है, यह कपिलादि ऋषियों ने कहा है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि अचेतन प्रकृति स्वतः कोई काम नहीं कर सकती है

और अविकारी पुरुष स्वतः नहीं भोग सकता है, तथापि प्रकृति के निकट होने से पुरुष भोक्ता है ॥ २१ ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २२ ॥

दोहा—जबै पुरुष प्रकृती भजत, करत तबै गुण भोग ।
नीच ऊँच योनिहिं जनम, लहत गुनन के योग ॥२२॥

हे अर्जुन ! वह पुरुष प्रकृति कार्य देह में स्थिर होकर प्रकृति से सुख-दुःखादि गुणों को भोगता है । इससे पुरुष जो अच्छी वा बुरी योनियों में जन्म लेता है, उसका मूल कारण प्रकृति के गुणों का संयोग ही है ॥ २२ ॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २३ ॥

दोहा—परम आतमा देह ते, न्यारी जानहु होय ।
साची भर्ता भोगता, ईश दयालु सोय ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! इस देह में पुरुष वर्तमान रहकर भी भिन्न है, क्योंकि देखने वाला अर्थात् साक्षीभूत है, अनुमन्ता (सलाह देनेवाला) है, भोगनेवाला है, पोषण करनेवाला है, परमेश्वर है और परमात्मा है ॥ २३ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२४॥

दोहा—जो कोऊ ऐसे लखै, पुरुष प्रकृति गुण भाय ।
सो चाहे जैसे रहै, बहुरि न उपजै आय ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! जो इस रीति से पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जान लेता है, वह संसार में लिप्त रहने पर भी फिर जन्म नहीं लेता है ॥ २४ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२५॥

दोहा-देह मध्य आतम लखै, कोऊ करि नित ध्यान।
प्रकृति पुरुषके भेद ते, कोउ लख कोउ लख ज्ञान ॥ २५ ॥

हे अर्जुन ! कितने ही ऐसे मनुष्य मन में ध्यान करके अपने ही में आत्मा को देखते हैं, कितने ही सांख्ययोग अर्थात् प्रकृति पुरुष के विवेक से देखते हैं और कितने ही कर्म-याग से देखते हैं ॥ २५ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२६॥

दोहा-जे ऐसे नहिं जानहीं, ते सुनि और न पास ।
मम उपासना करत नर, छूटत मृत्यु के फाँस ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! कितने ही ऐसे हैं जो सांख्ययोग वा कर्म-योग को नहीं जानते हैं, वे दूसरों के उपदेश सुनकर ही उपासना करते हैं, वे भी श्रद्धापूर्वक उसके श्रवण में तत्पर होने से इस संसार-सागर से तर जाते हैं ॥ २६ ॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २७ ॥

दोहा--स्थावर जंगम जीव जे, उपजत जग में आय ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के, योगहिं ते प्रगटाय ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! जितने स्थावर जंगम प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं, उन सबकी उत्पत्ति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से जान लेना ॥ २७ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२८॥

दोहा-परमेश्वर सब जीव मों, बैठ्यो एक समान ।
तिन्हैं न सत विनसै न यह, जो जाने सो जान ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! जो सम्पूर्ण प्राणियों में समान भाव से स्थिर परमेश्वर को देखता है और सब भूतों के नष्ट होने पर भा जो आत्मा को अविनाशी देखता है ॥ २८ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२९॥

दोहा-ईश्वर को सब ठौर जो, देखत एक समान ।
आपु न आतम घाति सों, सहै परम पद जान ॥ २९ ॥

हे अर्जुन ! जो ईश्वर को समान मानता है, वह आपही अपनी आत्मा को विनष्ट नहीं करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं च पश्यति ॥३०॥

दोहा-प्रकृति करत सब कर्म को, जीव करत कछु नाय ।
जो देखत यहि भाँति नर, समदरसी सो भाय ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति के किये हुए मानता है और आत्मा को उन कर्मों का कर्ता नहीं मानता है, वही यथार्थ समदर्शी है॥ ३० ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३१ ॥

दोहा-प्रलय समै सब भूतको, प्रकृति लयो लख जोय।
बहुरि प्रकृति तें विस्तरै, लखै ब्रह्म सो होय ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष स्थावर जङ्गम प्राणियों के भिन्न भिन्न भेदों को प्रलयकाल में ईश्वर की शक्तिरूप एकही प्रकृति में स्थित मानता है और उसी प्रकृति से सब प्राणियों के विस्तार को भी मानता है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥ ३१ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३२॥

दोहा-आदि रहित अविनाशि पुनि, निरगुण आतम सोय।
देह मांझ यद्यपि रहै, करै न लिप्त न होय ॥ ३२ ॥

हे कौन्तेय ! यह परमात्मा अनादि और निर्गुण है, इससे अविनाशी है। अतः देह में वर्तमान होने पर भी न कर्म करता है और न कर्मफल में लिप्त होता है ॥ ३२ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३३॥

दोहा-ज्यों अकाश सूक्षम बसै, सबमें परसत नाहिं।
त्योंही आत्मा गात में, लिप्त न देहनि मांहि ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! जैसे आकाश सब जगह व्याप्त है, परन्तु सूक्ष्म होने से कहीं लिप्त नहीं होता है। इसी भाँति सम्पूर्ण देह में रहकर आत्मा भी देह के गुणों में लिप्त नहीं होता है ॥ ३३ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३४॥

दोहा—जस प्रकाश एकहि करत, सब जग सूरज देव ।
तस क्षेत्री सब क्षेत्र को, कर प्रकाश सुनु भेव ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! जैसे सूर्य इस सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, उसी तरह क्षेत्री जीव सम्पूर्ण क्षेत्र देह को प्रकाशित करता है ॥ ३४ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३५॥

दोहा—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को, भेद जान सो जोय !
भूत प्रकृति ते मोक्ष पुनि, जानै मुक्त सु होय ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! जो ज्ञानचक्षु से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अन्तर भली भाँति जानते हैं और पूर्वोक्त प्रकृति से मोक्ष का उपाय भी जानते हैं, वे परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञनिर्देशयोगो
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥



अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

दोहा—परम ज्ञान उत्तम पुनी, तोको देउँ सुनाय ।
जाहि जानि के मुनि सबै, गये मुक्ति को पाय ॥ १ ॥

भगवान् बोले—हे अर्जुन ! मैं सम्पूर्ण ज्ञानों में उत्तम ज्ञान फिर तुझसे कहता हूँ । इसी ज्ञान के आश्रय से सम्पूर्ण मुनिजन इस देहबन्धन से छूटकर परम सिद्धि अर्थात् सर्वश्रेष्ठ मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

दोहा—याही ज्ञानके आसरे, मेरो लह्यो स्वरूप ।
प्रलय सृष्टि व्यापै न तिन, परैं न ते भव कूप ॥ २ ॥

जिस ज्ञान को मैं अब तुझे सुनाऊँगा, उसीके आश्रय से जो मुनिगण मेरी समता को प्राप्त हो गये हैं, वे सृष्टि-काल में न उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकाल में दुःख भोगते हैं । वे जन्म-मरण से रहित हो गये हैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

दोहा—ब्रह्म प्रकृति मम योनि है, वामें गर्भहिं राखि ।
उपजावत सब सृष्टि हैं, पारथ मन अभिलाखि ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! महद्ब्रह्म प्रकृति मेरी योनि है । इसीमें मैं गर्भ धारण करता हूँ । उसी गर्भ से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

दोहा—जो जो मूरति होत है, सब योनिन में आय ।
तिनकी योनी प्रकृति है, हैं पुनि पिता कहाय ॥ ४ ॥

हे कौन्तेय ! मनुष्य आदि जितने स्थावर, जङ्गम प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं, उन सबकी योनि प्रकृति है और बीज देनेवाला गर्भाधान कर्ता पिता मैं हूँ ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

दोहा—सत रज तम गुण तीन ये, प्रकृती ते प्रगटाहिं ।
अर्जुन अव्यय जीव को, ये बाँधहि तनु माहिं ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, ये तीनों प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं । ये गुण अविनाशी जीव को इस देह में बाँधते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

दोहा–निर्मल अरु परकाश करि, सतगुण शान्ति सुभाय।
ज्ञानसंग सुखसंग सों बाँधत जीवहिं आय ॥ ६ ॥

हे अनघ ! उन तीनों गुणों में से सतोगुण निर्मल और रोगरहित शान्तिस्वरूप है। इसीसे यह सतोगुण शान्ति के कार्य, सुख और प्रकाश के कार्य, ज्ञान से जीव को बाँधता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

दोहा–रजगुण राग–स्वरूप हैं, तृष्णा को संग लेइ।
कर्मसंग ते जीव को, सो पुनि बन्धन देइ ॥ ७ ॥

हे कौन्तेय ! रजोगुण को अनुरागात्मक जानो। यह तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होता है और कर्म की वासना से जीव को बाँध देता है ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

दोहा–उपजत तम अज्ञान ते, मोहित सबको होय।
निद्रा आलस विकलता, इनसो बाँधत जोय ॥ ८ ॥

हे भारत ! तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह सम्पूर्ण प्राणियों को मोहने वाला है। यह प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा जीव को बाँधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

दोहा–सत्त्व लगावै सुखनि मों, रजकरि कर्महिं लीन।
तम प्रमाद मों लावहीं, ढाँकि ज्ञान तिन दीन ॥ ९ ॥

हे भारत ! सत्त्वगुण जीव को सुख में प्रवृत्त करता है, रजोगुण कर्म करने में प्रवृत्त करता है और तमोगुण ज्ञान को आच्छादित कर जीव को प्रमाद में प्रवृत्त करता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

दोहा—रज तम दोउन दाबि कै, रहै सत्व भरपूरि ।
सत तम को ढापे रजहु, तम सतरज कर चूरि ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जब रजोगुण और तमोगुण इन दोनों को पराजय कर सतोगुण की अधिकता होती है, तब यह सतोगुण प्राणियों को सुख और ज्ञान से युक्त करता है । इसी भाँति रजोगुण भी सतोगुण, तमोगुण का पराभव करके जीव को तृष्णा आदि अपने कर्मों में प्रवृत्त करता है और इसी भाँति तमोगुण, सतोगुण और रजोगुण का पराभव करके जाव को अपने आलस्य और अज्ञानादि कर्मों में प्रवृत्त करता है ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

दोहा—नेत्र आदि सब द्वारते, जबै देहि मह ज्ञान ।
भैसा ते तब लो बढ्यो, सत गुण है अस जान ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जब देह में नेत्रादि सम्पूर्ण द्वारों में रूपादि का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, तब सतोगुण की वृद्धि समझनी चाहिये ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

दोहा-उद्यम कर्मारम्भ अरु, लोभ अशान्ति कुचाह।
रजगुण के बाढ़े बढ़ैं, अस जानहु नरनाह ॥ १२ ॥

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुण बढ़ता है,तब लोभ, कार्य में प्रवृत्ति अर्थात् तत्परता, कर्मों का आरम्भ, चित्त में अशान्ति और स्पृहा उत्पन्न होती है ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

दोहा-अर्जुन जब तमगुण करत, आय देह मों वास ।
आलस मोह अज्ञान बढि, किय उद्यम को नास ॥ १३ ॥

हे कुरुनन्दन ! तमोगुण के बढ़ने पर ज्ञान का नाश, उद्यम का त्याग, प्रमाद अर्थात कर्तव्य कर्मों से अरुचि और मिथ्या पदार्थों में प्रीति, ये सब बातें होती हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदांल्लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

दोहा-सतगुण की वृद्धी भये, जीव तजै जो देह।
लहै सुउत्तम लोक को ज्ञानवान् को गेह ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! सतोगुण की वृद्धि होने पर यदि प्राणी देह त्याग दे, तो वह निर्मल लोकों को प्राप्त होता है। जहाँ हिरण्यगर्भादि के उपासक रहते हैं, आत्मज्ञानियों के कुल में उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

दोहा-रजगुण बाढ़े देह तजि, कर्मवन्त गृह जाय ।
तमगुण बाढ़े देह तजि, पशुयोनी लह भाय ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! जो प्राणी रजोगुण की वृद्धि में मरता है, वह कर्मासक्त मनुष्यों में जन्म लेता है। जो तमोगुण की वृद्धि में मरता है, वह मूढयोनि अर्थात् पशुयोनि में जन्म लेता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

दोहा—सात्त्विक अरु निर्मल सुफल, सुकृत कर्मते होय ।
रजगुण को फल दुःख है, तम अज्ञानफल जोय ॥ १६ ॥

सुकृत कर्मों का फल सात्त्विक और निर्मल होता है, रजोगुण कर्मों का फल दुःखद होता है, और तमोगुणी कर्मों का फल अज्ञान होता है। कपिलादि ऋषियों का यह कथन है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

दोहा—सतगुण ते है ज्ञान पुनि, रजगुण लोभ निदान ।
ह्वै प्रमाद तम गुणहिं ते, मोह तथा अज्ञान ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है, तमोगुण से असावधानता, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

दोहा—सात्त्विक ऊँचे लोक बसि, राजस मानुस लोक ।
अधम गुणी तामस सकल, लहैं नरक को शोक ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! सात्त्विक वृत्तिवाले मनुष्य सत्यलोक में जाते हैं, रजोगुणी इस मृत्युलोक में जन्म लेते हैं और तमोगुणी अधोलोक को जाते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

दोहा-गुण ही कर्ता और नहिं, जो ज्ञानी अस जोइ ।
आतमा गुणते है परे, सो पावत है मोहिं ॥ १९ ॥

जब द्रष्टा अर्थात् विवेकी पुरुष सत्त्वादि गुणों से भिन्न किसी और को कर्ता नहीं समझता है और गुणों से परे साक्षीरूप आत्मा को जानता है, तब वह मेरे रूप को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

दोहा-देह किये इन तीन गुण, जो प्राणी दे त्यागि ।
जन्म मरण दुख छूटिसो, होय मुक्तिको भागि ॥ २० ॥

देहधारी प्राणी देह से उत्पन्न हुए इन तीनों सत्त्वादि गुणों को त्याग कर जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधियों से छूटकर अमृत अर्थात् ब्रह्मपद को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

दोहा-तीनों गुणको पार जो, करत चिन्ह कहु तासु ।
है ताको आचरण कस, कस लाँघहिं गुण फाँसु ॥ २१ ॥

अर्जुन ने पूछा कि हे प्रभो ! जो इन तीनों गुणों को पार करता है उसका लक्षण क्या है ? उसका आचरण कैसा होता है ? और किस भाँति तीनों गुणों का अतिक्रमण किया जाता है ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

दोहा—ज्ञान कर्म अरु मोह को, लखि प्रवृत्ति मनमाँहि ।
करै द्वेष नहिं और इन, गये चाह जो नाहिं ॥ २२ ॥

भगवान् बोले हे अर्जुन ! सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहरूप तीन कार्य हैं, इनके स्वतः प्रवृत्त होनेपर जो इनके त्याग की इच्छा नहीं करता है और निवृत्त होने पर फिर ग्रहण की इच्छा नहीं करता है ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

दोहा—उदासीन सम जो रहै, सुख दुख बिचल न होय ।
गुण सम निज कारज करत, यों जानै जो कोय ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जो उदासीन की तरह रहता है और सत्त्वादि गुणों के सुख दुःखादिरूप कार्यों से विचलित नहीं होता है । किन्तु ऐसा जानता है कि ये गुण अपने २ कार्यों में स्वतः ही प्रवृत्त रहते हैं, जो पुरुष ऐसा रहता है और चञ्चल नहीं होता है, वह गुणातीत है ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥२४॥

दोहा—सुख अरु दुख में स्वस्थ जो, कंचन पाहन एक ।
प्रिय अप्रिय है जाहि सम, स्तुति निन्दा हूँ एक ॥ २४ ॥

जो सुख दुःख में स्वस्थ अर्थात् मानसिक विकारों से रहित है, जिसको कङ्कड, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, जिसको प्रिय-अप्रिय समान है, जो धैर्यवान् है और जिसको स्तुति निन्दा समान है (वह पुरुष गुणातीत है) ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

दोहा—तुल्य मान अपमान सों, मित्र शत्रुसम मान ।
सब आरम्भहि जो तजै, गुणातीत तेहिं जान ॥ २५ ॥

हे अर्जुन ! जो मान, अपमान और शत्रु, मित्र को समान जानता है और जो किसी कार्य को आरम्भ नहीं करता है, वह गुणातीत है ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

दोहा—जो मोकों दृढ़ भक्ति करि, सेवै चित में लाय ।
सो तीनों गुण लाँघि कै, ब्रह्मभाव ह्वै जाय ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जो कोई अनन्यभक्ति से मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणों को लाँघ कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

दोहा—नित्य ब्रह्म को ठांव हौं, मोक्षहु मेरो रूप ।
हौं अविनाशी धर्म पुनि, अक्षय सुखहु अनूप ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! अविनाशी ब्रह्म का स्थान मैं ही हूँ, मोक्ष स्वरूप मैं ही हूँ, निरन्तर धर्म का स्थान मैं ही हूँ और नित्यसुख का स्थान मैं ही हूँ ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥



अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

दोहा-ऊपर जड़ शाखा अधः, है अश्वत्थ सुनित्य ।
वेद पात तेहि जान जो, सो वेदज्ञ सुसत्य ॥ १ ॥

भगवान् कहने लगे कि हे अर्जुन ! इस संसार में एक अविनाशी अश्वत्थ है, इसकी जड़ क्षर और अक्षर से भी ऊपर अर्थात् उत्तम पुरुष भगवान् है। इसकी शाखाये हिरण्यगर्भ से लेकर कीट, पतङ्ग आदि नीचे की ओर फैली हैं। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड इसके पत्ते हैं, जो इस अश्वत्थ अर्थात् बार बार नष्ट होकर फिर बन जाने से अविनाशी वृक्ष को जनता है, वह वेदार्थज्ञाता है ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

दोहा-शाखागुण सींची बढ़ी, पल्लव विषय बनाय ।
फैली जर कर्मन बँधी, मनुजलोक में भाय ॥ २ ॥

संसार वृक्ष की शाखायें सतोगुणादिरूप जल से सींचकर जो ऊपर और नीचे चारो ओर फैल रही हैं, इनमें इन्द्रियों के शब्द, रूप, रसादि विषय नई कोपलों के समान हैं, और मनुष्यलाक में भी भले बुरे कर्मों के

अनुसार मूल फैले हुए हैं, अर्थात् जो जैसा कार्य करता है, उसी के अनुसार वह सुख दुःखादि को भोगता है। जो सात्त्विक कर्म करता है, वह देव आदि योनियों में स्वर्ग आदि ऊपर के लोकों में बास करता है, जो तामस कर्म करता है, वह पशु आदि योनि में नीचे के लोकों में वास करता है। यही इस वृक्ष की शाखाओं का नीचे और ऊपर का फैलना है ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

दोहा—स्थान रूप याको अलख, आदि अन्त नहिं पाय ।
ले असङ्ग दृढ़ शस्त्र को, दृढ़जड़ तरुहिं गिराय ॥ ३ ॥

इसके रूप का ज्ञान नहीं होता, इसका आदि अन्त जानने में नहीं आ सकता है और न इसकी स्थिति को कोई जान सकता है। इस दृढ मूलवाले वृक्ष को असङ्ग अर्थात् अहं और मम का त्यागरूप दृढ शस्त्र से काटकर ॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

दोहा—तब खोजिय तेहि ठौर को, फिरे न जाको पाय ।
जग उपज्यो जो पुरुष ते, ताको शरन सुजाय ॥ ४ ॥

तदनन्तर संसार के मूल कारणस्वरूप ईश्वरपद की खोज करनी चाहिये। जिस पद को प्राप्त होकर फिर संसार में आगमन

नहीं होता है। जिस पद से इस पुरातन संसार की प्रवृत्ति हुई है, उसी आदि पुरुष की शरण में आया हूँ, यह कहकर उस पद की खोज करे ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्याविनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

दोहा– मान मोह अरु सङ्ग तजि, आतम रति निष्काम।
सुख दुख तजि ताको लहै, अविनाशी पद मान ॥ ५ ॥

जिनको मानापमान वा मोह नहीं है, जिनको स्त्री, पुत्रों धन आदि की आसक्ति नहीं है, जो सदा अध्यात्म ज्ञानमें, लीन रहते हैं, जिनकी सांसारिक वासना दूर हो गई है, जो सुख, दुःख, शीत, उष्ण, हानि, लाभ आदि द्वन्द्व से मुक्त हो गये हैं, वे ही ज्ञानी उस अव्यय पद को पाते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

दोहा--सूर्य चन्द्रमा अरु अगिनि, करै न तासु प्रकाश।
फिरै न जाको पाइ पुनि, सो मेरो शुभ वास ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! जिसे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं करते हैं, और जिस पद को प्राप्त होकर संसार में आना-जाना छूट जाता है, वही हमारा श्रेष्ठ धाम है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

दोहा--जीव लोक में जीव है, अविनाशी मो अंश।
प्रकृति लीन मन सहित वह, खैंचत इन्द्रिय पञ्च ॥ ७॥

जीवलोक में यह जीव मेरा ही अंश है, अविद्या के कारण सनातन अर्थात् संसारी कहलाने वाला यही जीव सुषुप्ति तथा प्रलय के समय प्रकृति में लीन मन और पाँच ज्ञानेन्द्रिय इन छओं को सांसारिक भोगों के लिये खींचता है ॥ ७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

दोहा--जब यह लहत शरीर अरु, तजत तासु सम्बन्ध।
ले इन्द्रिय मन जात जस, वायु कुसुम को गन्ध ॥ ८॥

जब यह दूसरी देह को धारण करता है, अथवा वर्तमान देह को छोड़ता है, तब अपनी प्रथम देह के मन और इन्द्रियों को साथ लेकर दूसरे शरीर में ऐसे प्रवेश करता है, जैसे वायु पुष्प के गन्धों को लेकर अन्य स्थानों में जाता है ॥ ८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९॥

दोहा--श्रवण नेत्र अरु नासिका, त्वच अरु रसना जोग।
अरु मन के संग जीव यह, करत विषय को भोग ॥ ९॥

यह जीव कान, आँख, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मन इन सबके आश्रय से विषयों को भोगता है ॥ ९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

दोहा—इन्द्रिययुत निकसत रहत, करत विषय को भोग ।
मूढ़ जीव देखत नहीं, देखहिं ज्ञानी लोग ॥ १० ॥

यह जीव इस गुणयुक्त देह को कैसे छोड़ता है ? और दूसरे देह में रहकर विषयों का उपभोग कैसे करता है ? इन बातों को मूढ मनुष्य नहीं देख सकते हैं। केवल वे ही देख सकते हैं, जिनके ज्ञाननेत्र खुल गये हैं ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

दोहा—योगी जन यतनहिं किये, देखत यहि हिय माहिं ।
मूरख चह जतनहुँ किये, तउ देखत यहि नाहिं ॥ ११ ॥

योगीजन समाधिस्थ होकर यत्न करते हुए अन्तःकरण में वर्तमान इस आत्मा को देखते हैं और अविवेकी यत्न करने पर भी इसके स्वरूप को नहीं देख सकते हैं ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

दोहा—सूरज में जो तेज रहि, भासत सब संसार ।
चन्द्र माँहि जो अग्नि में, सो मेरो निरधार ॥ १२ ॥

सूर्य का तेज जो सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, और जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है, उसको मेरा ही तेज जानो ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

दोहा—हम धारत सब जीव को प्रविशि धरा के माहिं ।
पोषत हम सब औषधी, रस है निशिकर माहिं ॥ १३ ॥

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश कर के अपने प्रभाव से सब चराचर प्राणियों को धारण करता हूँ और रसात्मक सोम होकर सम्पूर्ण औषधियों को पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

दोहा—जाठर अग्निस्वरूप गहि, सब देही मों आय ।
प्राण अपान सहाइ सों, चारहु अन्न पचाय ॥ १४ ॥

मैं ही वैश्वानर अर्थात् जठराग्नि होकर प्राणियों के देह में प्रवेश करके प्राण और अपानवायु की सहायता से भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, और लेह्य इन चारों प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

दोहा—हौं सबके हियमें प्रविशि, करहुँ स्मरण अरु ज्ञान ।
पुनि अभाव तिनको करहुँ, पारथ अस तू मान ॥
चारो वेद मोको भनै, हौं वेदान्त बनाउँ ।
वेदन के गूढ़ार्थ को, ज्ञाता हमहिं कहाउँ ॥ १५ ॥

मैं ही सम्पूर्ण जीवों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करता हूँ । मेरे ही द्वारा पहिले किये हुए विषयों का स्मरण होता है, इन सबका अभाव भी मेरे ही द्वारा होता है,

मैं ही सब वेदों से जानने योग्य हूँ और वेदान्त का कर्ता तथा वेदों का जानने वाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

दोहा—क्षर अरु अक्षर द्वै पुरुष, लोक माँहि है भोय।
भूत सकल क्षर हैं अरु, अक्षर जीव कहाय ॥ १६ ॥

इस लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार के पुरुष हैं, इन में जो देहधारी हैं वे क्षर हैं, और जो कूटस्थ अर्थात् विकार रहित हैं, वे अक्षर हैं ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥

दोहा—जाको परमातमा कहै, उत्तम पुरुष सु होय।
अविनाशी पालन करत, तीन लोक को जोय ॥ १७ ॥

इन दोनों में से भिन्न उत्तम पुरुष और है, जिसे परमात्मा कहते हैं, वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके तीनों लोकों का पालन करता है ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

दोहा—क्षर अरु अक्षर ते परे, हौं हम जात कहाय।
ताते वेद अरु लोक में, पुरुषोत्तम सुकहाय ॥ १८ ॥

क्षर जो यह पदार्थ है, उनसे मैं पर हूं। और अक्षर जो चेतन है,उसका प्रेरक होने से अक्षर से भी उत्तम हूँ,इन्हीं कारणों से मैं लोक और वेद दानों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

दोहा—त्यागि मोह जानै जुअस, पुरुषोतम मोहिं भाय ।
सबहिं भाँति मोको भजै, सो सर्वज्ञ कहाय ॥ १९ ॥

हे भारत ! जो पुरुष मोह को त्यागकर मुझको इस भाँति पुरुषोत्तम जानता है, वह सब भाँति से मुझको भजता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

दोहा—अति सुगुप्त यह शास्त्र हौं, तोको दियो सुनाय ।
जानि याहि कृतकृत्य नर, बुद्धिमान् ह्वै जाय ॥ २० ॥

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अत्यन्त गुप्त शास्त्र मैंने तुझे सुनाया है, इसको जान कर मनुष्य बुद्धिमान् और कृत्यकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥



अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

दोहा—अभय चित्त की शुद्धता, आत्मज्ञान दृढ़ होय ।
दान यज्ञ दम वेद पढ़ि, तप अरु सरल सुजोय ॥ १ ॥

हे अर्जुन ! निर्भयता, चित्त की शुद्धि, आत्मज्ञान में निष्ठा, सुपात्र को दान देना, इन्द्रियों का निग्रह, पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान, वेदों का पढ़ना, तपश्चर्या, सरलता ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २॥

दोहा—सत्य अहिंसा क्रोध को, त्यागि शान्ति पुनि होय ।
खलता त्यागि दयालुता, अहङ्कार तजि कोय ॥
लोभरहित मृदुता हिये, लाजवन्त पुनि नित्य ।
करै न चञ्चलता कबहु, तोसों कह्यो जु सत्य ॥ २ ॥

किसी की हिंसा न करना (सबका हितकारी), सत्य-भाषण करना, क्रोध न करना, त्याग अर्थात् दान देना, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, प्राणिमात्र पर दया करना, स्थितचित्त रहना, स्वभाव में कोमलता, निन्दित कर्मों से लजाना, चञ्चलता को त्याग देना ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

दोहा—तेज छमा धृति शोच अरु, करै न द्रोह न मान ।
दैवी सम्पद जो लहै, ये गुण तेहि मो जान ॥ ३ ॥

तेज, क्षमा, धैर्य, किसी से द्रोह न करना, अभिमान न करना, हे अर्जुन ! दैवी सम्पत्ति के छब्बीस गुण उसी में रहते हैं, जो दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

दोहा—दम्भ दर्प अभिमान रिस, क्रूरभाव अज्ञान ।
असुर सम्पदा जीव जो, तामे ये गुण मान ॥ ४ ॥

दम्भ अर्थात् धर्म में कपट करना, दर्प, धन और विद्या का गर्व, अभिमान, क्रोध, अतिनिष्ठुरता और अज्ञान आसुरी सम्पत्ति के छः गुण उसी को होते हैं, जो आसुरी सम्पत्ति में उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दोहा—दैवी सम्पद मुक्ति दे, आसुर बन्धन देत ।
दैवी संपद तू लहो, शोक करत केहि हेत ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! दैवी सम्पदा से मुक्ति होती है और आसुरी सम्पदा से बन्धन होता है । हे अर्जुन ! तेरा जन्म तो दैवी सम्पदा के आश्रय से हुआ है, इससे तू शोक मत कर ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

दोहा-दैव आसुरी भेद है, द्विविध सृष्टि जग होइ।
दैवी विस्तर सो कह्यो, अब आसुरि सुनु जोइ ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! इस लोक में प्राणियों की सृष्टि दो प्रकार की है, एक दैवी और दूसरी आसुरी। इन दोनों में से दैवी का तो विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है, अब आसुरी का वर्णन करता हूँ, उसे सुनो ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

दोहा-अविधि और विधि धर्म की, जन आसुर नहिं जान।
सत्य शौच आचार को, लेश न तिनमें मान ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! आसुरी स्वभाववाले मनुष्य सांसारिक धर्मों में प्रवृत्त होना नहीं जानते हैं और न उनसे निवृत्ति जानते हैं। उनमें पवित्रता, आचार और सत्य नहीं होता है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

दोहा-शास्त्र धर्म अरु ईश्वरहिं, जानत नहिं ये लोग।
काम हेतु यह जग भयो, स्त्री अरु पुरुष सँयोग ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! जो आसुर हैं, वे यह कहते हैं कि यह जगत् असत्य है अर्थात् इसकी सत्यता में वेद और पुराण आदि प्रमाण नहीं हैं। धर्म-अधर्म रूप इसका कोई आधार नहीं है और अनीश्वर है अर्थात् इसका कर्ता कोई नहीं है। यह अपरस्पर-सम्भूत अर्थात् स्त्री-पुरुष के संयोग से उपजा है। इसलिये स्त्री-पुरुष का काम ही इस जगत् का कारण है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

दोहा—नष्टात्मा लघु बुद्धि जन, यहै समुझि चित लेहि ।
जगरिपु हिंसक कर्म करि, जगत नाश करि देहिं ॥ ९ ॥

नष्ट आत्मा, अल्प बुद्धि, अनीश्वरवादी जगत् को ऐसी ही दृष्टि से देखते हैं। क्रूर कर्मों के करनेवाले ये जगत् के अहित हैं, ये जगत् के नष्ट करने के लिये उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

दोहा—दम्भ मान मदवश भये, भजत काम अनपूर ।
अनुचित कारज करत ये, मूढ़ अशुचि मदचूर ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! आसुरी योनिवाले दम्भ, मान और मद से युक्त होकर कभी भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओं के लिये क्षुद्र देवताओं की आराधना में तत्पर हो जाते हैं और मोह में पड़कर मारण, मोहन, उच्चाटन आदि असद्ग्राह्य मन्त्रों को जपते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

दोहा—मरणकाल तक ते रहहिं, अपरमित चिन्ता लीन ।
पुरुषारथ सब काम सुख, अस मानत ते हीन ॥ ११ ॥

आसुरी स्वभाववाले मरण पर्यन्त अनन्त चिन्ता में पड़े रहते हैं और काम भोग को ही सुख का परमावधि और परम पुरुषार्थ मान उसी में तत्पर रहते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

दोहा–सो आशा फाँसनि बँधे, काम क्रोध बश होइ ।
धन जोरत अन्याय करि, काम भोग हित जोइ ॥ १२ ॥

अनेक भाँति की असंख्य आशारूपी फाँसियों में बँधे हुए काम और क्रोध के अधीन होकर अनेक कामनाओं के भोग के लिये अनेक प्रकार के अन्याय करके धन का सञ्चय करते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

दोहा–लह्यो मनोरथ आज यह, औरहु पावों काल ।
यह धन मेरे पास हैं, बहुरि जोरिहौ माल ॥ १३ ॥

वे दिनरात इसी प्रपञ्च में फँसे रहते हैं कि आज मुझको यह मिला, मेरा यह मनोरथ पूर्ण हुआ, आज मेरे पास इतना धन है और अधिक हो जायगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

दोहा–यह वैरी मारयो जु हम, औरन करिहौं हन्त ।
ईश्वर औ भोगी हमहिं, सिद्ध बली सुखवन्त ॥ १४ ॥

आज मैंने अमुक शत्रु को मार लिया है, कल और शत्रुओं को मारूंगा, मैं ही ईश्वर, भोगी, सिद्ध, बलवान और सखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः १५।

दोहा-मैं ही धनी कुलीन हौं, को है मोहि समान।
यज्ञ दान आनँद करौं, इमि मोहित अज्ञान ॥ १५ ॥

मैं ही धनाढ्य और कुलीन हूँ, मेरे समान और दूसरा कौन है ? मैं ही यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और आनन्द करूँगा ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

दोहा-मन तिनको भ्रम पमो रयो, मोहजाल तिन घेरि।
अशुचि नरक महँ परत हैं, काम भोग के फेरि ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार इनका चित्त मोहजालरूपी अनेक भाँति के मनोरथों में फँसा हुआ भ्रम में पड़ा रहता है और ये काम भोगों में आसक्त रहने के कारण घोर अपवित्र नरकों में गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

दोहा-करहिं बड़ाई आपनी, उद्धत धन मद मान।
नाम मात्र दंभी करत, यज्ञहुँ विना विधान ॥ १७ ॥

ऐसे मनुष्य अपने को सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। धन, अभिमान और मद से भरे किसीसे नम्र तक नहीं होते हैं और विना विधि के ऐसे नाममात्र के यज्ञ करते हैं जिनमें धर्म का आडम्बर मात्र रहता है ॥ १७ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

दोहा—अहङ्कार बल दर्प अरु, काम क्रोध वश होहिं ।
निन्दक निज परकास मों, देत कष्ट हैं मोहिं ॥ १८ ॥

ये आसुरी बुद्धिवाले अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोध के वश रहते हैं और अपनी तथा पराई देहों में अन्तर्यामीरूप से रहनेवाले मुझसे द्वेष रखते हैं और निन्दा करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

दोहा—मम द्वेषी अरु क्रूर इन, अधम मनुज मो देखि ।
सदा आसुरी योनि मों, गेरौं पापि सुपेखि ॥ १६ ॥

मुझमें द्वेष करनेवाले पापी और क्रूर इन नराधमों को मैं इसी संसार के बीच आसुरी योनियों में बराबर डालता रहता हूँ ॥ १६ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

दोहा—जन्म जन्म में मूढ़ ते, असुर योनि में होहिं ।
ते पावत मों को नहीं, जात अधम गति मोहिं ॥ २० ॥

वे मूढ़ जन्म जन्म में आसुरी योनि को पाते हैं, मुझको कदापि नहीं पाते और इस तरह सदा अधम गति में पड़े रहते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।२१।

दोहा—नरकद्वार हैं तीन विधि, आत्मनाश को हेतु ।
काम क्रोध अरु लोभ पुनि, त्यागे से सुख होत ॥ २१ ॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं । ये ही तीनों आत्मा को नष्ट कर देते हैं, इससे इन तीनों का त्यागना उचित है ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

दोहा—नरकद्वार जो तीन ये, इनते छूटै जोय ।
यतन करै निज श्रेय को, तबै परम गति होय ॥ २२ ॥

हे कौन्तेय ! जो मनुष्य नरक के द्वार इन तीनों काम, क्रोध और लोभ को छोड़ देता है, वही अपनी आत्मा के कल्याण के साधन का उपाय करता है, तब परम गति को पाता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

दोहा—शास्त्र कही विधि छोड़ि जो, निज इच्छा किय कर्म ।
सिद्धि लहै नहिं परम गति, पावत है नहि धर्म ॥ २३ ॥

जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधियों को छोड़कर स्वेच्छा से काम करता है, उसको न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न मोक्ष ही मिलता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥२४॥

दोहा-यातें काज अकाज बिच, तू करु शास्त्र प्रमान।
तूँ कर कर्मनि भाँति भलि, शास्त्र द्वार उन जान॥ २४॥

हे अर्जुन! इस कारण कर्तव्य और अकर्तव्य कर्मों की व्यवस्था में शास्त्र को प्रमाण समझ कर शास्त्रोक्त विधि से कर्म करना तुझे उचित है॥ २४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥



अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

दोहा—श्रद्धा सों यज्ञहि करत, जे तजि शास्त्र विधान ।
ते सात्त्विक वा रजगुणी, की तामस भगवान ॥ १ ॥

अर्जुन पूछते हैं कि हे कृष्ण ! जो किसी प्रकार से शास्त्र के विधि को छोड़ देते हैं, परन्तु श्रद्धापूर्वक यज्ञ करते हैं, उनकी स्थिति कैसी है ? उनकी प्रवृत्ति सात्त्विक है वा राजस है वा तामस है ॥ १ ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

दोहा—नर की श्रद्धा तीनि विधि, है स्वभाव अनुसार ।
सात्त्विक राजस तामसी, सुनहु तासु विस्तार ॥ २ ॥

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! स्वभाव के अनुसार लौकिक श्रद्धा तीन प्रकार की होती है । सात्त्विकी, राजसी और तामसी, मैं उनका वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

दोहा—अर्जुन ! श्रद्धा सबहिं की, होत प्रकृति अनुरूप ।
जो जैसो श्रद्धालु तस, श्रद्धा पुरुष स्वरूप ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! सबकी श्रद्धा प्रकृति के अनुसार होती है । जिसकी जैसी प्रकृति है, उसकी वैसी ही श्रद्धा भी है,

इसलिये यह पुरुष श्रद्धामय होता है, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसाही है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

दोहा-देवन पूजैं सात्त्विकी, राजस राक्षस यक्ष ।
प्रेत भूत गण को यजैं, जे नर तामस पक्ष ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! जो सात्त्विक पुरुष हैं, वे देवताओं का पूजन करते हैं, जो रजोगुणी हैं वे यक्ष और राक्षसों का पूजन करते हैं और जो अन्य तामसी पुरुष हैं, वे भूत और प्रेत गणों की पूजा करते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ता कामरागबलान्विताः ॥५॥

दोहा-शास्त्र मार्ग को त्यागि जे, करहिं तपस्या घोर ।
अहङ्कार अरु दम्भ युत, काम रोग के जोर ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य कपट, अहङ्कार, काम, विषयानुराग और आग्रह से शास्त्र में न कही हुई घोर तपस्याओं को करते हैं ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

दोहा-पंचभूत जे देह में, कष्ट तिनहिं ते देत ।
क्लेशे हिय में मोहु को, ते हैं असुर अचेत ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! वे घोर तप करके शरीर में वर्तमान पृथिव्यादि पञ्च महाभूतों को त्रास देकर क्षीण कर देते हैं और

अन्तर्यामी रूप से देह में स्थित मुझको भी क्षीण करते हैं। उन मूर्खों को तुम निश्चय असुर जानो ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

दोहा—आहारहु सब जीव को, तीन भाँति प्रिय होय ।
यज्ञ दान तप ताहि विधि, कहौं भेद सुनु सोय ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! आहार अन्नादि भी तीन प्रकार सब मनुष्यों को अच्छा लगता है। यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के हैं। इनके भेद को सुनो ॥ ७ ॥

आयुः सत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

दोहा—रसयुत घृतयुत सारयुत, प्रिय सात्त्विक आहार ।
आयु सत्य आरोग्य बल, रुचि वर्धक निरधार ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! आयु, सत्त्व, बल, निरोगता, सुख और प्रीति के बढ़ानेवाले रस से और घृतसे युक्त, अपने रसांश से बहुत काल तक देह में रहने वाले और हृदय के हितकारी आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं ॥ ८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

दोहा—उष्ण विदाही रूख कटु, खट्टो तीखो छार ।
रोग शोक दुःख देहिं ते, राजस प्रिय आहार ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! कड़वे, खट्टे, नमकीन, अत्यन्त गर्म, अत्यन्त तीखे, अत्यन्त रूखे और जलन उत्पन्न करनेवाले आहार रजोगुणवालों को प्रिय लगते हैं, इनके सेवन से दुःख, अप्रसन्नता और रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

दोहा-प्रहर पक्यो नीरस अशुचि, बासी जूठो जोय ।
सड्यो गन्यो भोजन सकल, तामस को प्रिय होय ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! एक पहर के पहिले जो पकाया गया हो, जिसमें से रस निचोड़ लिया गया हो, जो दुर्गन्धि युक्त हो, जो बासी हो, जो उच्छिष्ट हो और जो अपवित्र हो, ऐसा भोजन तामसी प्रकृतिवालों को रुचता है ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

दोहा-फलकी इच्छा त्यागि के, देखि शास्त्र परमान ।
करना निश्चित जासु सो, सात्त्विक यज्ञ सुजान ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! यज्ञ करना ही है, ऐसा ही मन में ठान फल की प्राप्ति की इच्छा के विना विधिपूर्वक जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ कहाता है ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

दोहा-फल की इच्छा आनि हिय, और दम्भ मनराखि ।
ऐसे जो यज्ञहिं करै, राजस यज्ञ सुभाखि ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो यज्ञ फल की कामना से कपट युक्त होकर किया जाता है, उसे राजसयज्ञ कहते हैं ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

दोहा—बिना मन्त्र बिनु दक्षिणा, बिना अन्न विधि छीनि ।
श्रद्धा बिनु जो यज्ञ किय, सो है तामस हीन ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! जो यज्ञ शास्त्र की विधि से हीन, यज्ञ के योग्य, अन्न से रहित, मन्त्रहीन, दक्षिणा रहित और बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह तामस यज्ञ कहलाता है ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

दोहा—देव विप्र गुरु पण्डितहिं, पूजै मृदु शुचि होय ।
ब्रह्मचर्य हिंसारहित, तप शरीर को सोय ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! देवता, द्विज, गुरु और तत्त्वज्ञानियों का पूजन करना, पवित्र रहना, सबसे नम्र रहना, ब्रह्मचर्य्य व्रत का धारण करना और किसी को कष्ट न देना, यह शारीरिक तप है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

दोहा—अभयकारि प्रियकारि हित, सत्य वचन जो कोइ ।
वेदाभ्यास सदा करै, सो वाचिक तप होइ ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! जिस वाक्य से किसी के मन में घबड़ाहट न हो, जो सत्य हो, सुननेवालों को प्रिय लगे, परिणाम में हितकारी हो, ऐसे वचन को कहना और वेदपाठ का सदा अभ्यास करना, यह वाचिक तप है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ।

दोहा—मन प्रसन्न मृदु वचन पुनि, इन्द्रिय निग्रह मान ।
चित्त शुद्धि अस करत है, मानस तामस मान ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! मन को प्रसन्न रखना, चित्त में शान्ति रखना, मौन धारण करना, विषयों से मन को रोकना, अन्तःकरण को शुद्ध रखना, यह सब मानसिक तप है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

दोहा—काया मन अरु बचन सों, श्रद्धायुत तप कीन्ह ।
फल इच्छा पुनि नहिं करै, सो सात्त्विक तप कीन्ह ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! फल की कामना के विना अत्यन्त श्रद्धा से जो कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार का तप किया जाता है, वह सात्विक कहाता है ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

दोहा—पूजा आदर मान युत, और दम्भ को हेत ।
जो तप सो राजस अहै, चञ्चल क्षण सुख देत ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! जो तप आदर पाने के लिये, अपनी बड़ाई कराने के लिये और दम्भ से किया जाता है, वह अनित्य और क्षणिक तप राजस कहाता है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

दोहा—देह कष्ट करि मोहयुत, हठ सों तप किय जौन ।
पर को जो क्लेशित करत, तामस तप है तौन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! जो तप अज्ञान के आग्रह से अथवा अपने शरीर को कष्ट देकर अथवा औरों को मारण, मोहन, उच्चाटन आदि कष्ट देने के निमित्त से किया जाता है, वह तामस कहाता है ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दोहा—देनोही है समुझि अस, विनु उपकार जो देइ ।
देश काल अरु पात्र लखि, सात्त्विक दान है तेइ ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! 'देना ही है, ऐसा निश्चय करके फिर बदले में कोई वस्तु लेने की इच्छा के विना तथा देश, काल और पात्र का विचार करके जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहाता है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

दोहा—जो बदले में देइ अरु, फलकी इच्छा राखि ।
अति कष्टहि सो देइ जो, सो राजस जग राखि ॥ २१ ॥

जो दान प्रत्युपकार अर्थात बदले की इच्छा से दिया जाता है अथवा स्वर्गादि फल की इच्छा से दिया जाता है अथवा दान के समय चित्त में दुःख होता है, वह दान राजस कहाता है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

दोहा—देश काल अरु पात्र विनु, जो कछु दीजै दान ।
आदर अरु सत्कार विनु, तामस ताको जान ॥ २२ ॥

जो दान निरादर और तिरस्कार के साथ देश तथा काल का विचार किये विना अपात्रों को दिया जाता है, वह तामस दान है ॥ २२ ॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताःपुराः॥२३॥

दोहा-ओंतत्सत् ये ब्रह्म के, नाम तीन है भाय ।
विप्र वेदअरु यज्ञ इन, पूर्वकाल उपजाय ॥ २३ ॥

ओं तत् सत् ये तीनों शब्द परमात्मा के नाम के उच्चारण हैं । विधाता ने सृष्टि के आदि में परमात्मा के इन तीनों नामों को उच्चारण करके ब्राह्मण, वेद और यज्ञ का निर्माण किया है ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

दोहा-यज्ञ दान तप आदि सब, कर्मसहित ओंकार ।
ज्ञानी जन याते करत, शास्त्रन के अनुसार ॥ २४ ॥

ओं शब्द परमात्मा निर्देश है, इससे ॐ शब्द का उच्चारण करके यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रोक्त क्रियाओं को करते हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधा क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः२५

दोहा-तत् उच्चारणकरि करहिं, क्रिया यज्ञ तप दान ।
फल अभिलाषा छांड़ि कै, मोक्षार्थी तू जान ॥ २५ ॥

फल की आशा को त्यागकर जो मुमुक्षुजन 'तत्' शब्द का उच्चारण करके यज्ञ, तप तथा अनेक प्रकार के दानों को करते हैं ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

दोहा—साधुभाव सत्भाव में, सत् उचारण होय ।
मङ्गल कारज में वहुरि, सत को गावहिं लोय ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! सत् शब्द का उच्चारण सद्भाव और साधभाव में किया जाता है तथा माङ्गलिक विवाहादिक कर्म में भी सत् शब्द का उच्चारण किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाऽभिधीयते ॥ २७ ॥

दोहा—यज्ञ तपस्या दान की, स्थिरता सत कहि जाय ।
ईश्वर अर्पण कर्म सब सत होंगे सुनु भाय ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! यज्ञ, तप और दान में जो स्थित है, उसे सत् कहते हैं तथा परमात्मा के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, वे भी सत् कहाते हैं ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

दोहा—होम दान तप आदि सब, बिनु श्रद्धा किय जौन ।
अर्जुन कर्म त्रिकाल में, असत कहावत् तौन ॥ २८ ॥

हे पार्थ ! जो यज्ञ, दान, तप और अन्यकर्म विना श्रद्धा के किये जाते हैं, वे असत हैं, उनका फल न परलोक में है और न इस लोक में है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

दोहा—त्याग और संन्यास को, चहत तत्त्व हम जान ।
न्यारो न्यारो सो कहहु, हृषीकेश भगवान ॥ १ ॥

अर्जुन ने पूछा कि हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! (इन्द्रियों के नियन्ता) हे केशिनिषूदन ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्वों को सुनना चाहता हूँ। आप कृपा करके अलग२ उन दोनों का भेद कहिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

दोहा—काम्यकर्म के त्यागको, पण्डित कह संन्यास ।
फल त्यागन सब कर्म को, त्याग नाम है तास ॥ २ ॥

भगवान् कहते हैं कि पण्डितजन सकाम कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं और सत्यासत्य के विवेकी पुरुष सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

दोहा—दोषतुल्य कर्मन तजे, कोऊ अस कह तात ।
यज्ञ दान तप ना तजे, दूजन की यह बात ॥ ३ ॥

कितने ही ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि दोष के समान कर्म को छोड़ देना चाहिये और कितने ही यह भी कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप आदि कर्मों का त्याग न करे ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

दोहा—त्याग शब्द के अर्थ सो, मेरो निश्चय एहि ।
तीन भाँति को त्याग है, अर्जुन तू चित लेहि ॥ ४ ॥

हे भरतर्षभ ! हे पुरुषसिंह ! इस त्याग के विषय में जो मेरा निश्चय है, उसे सुनो । यह त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

दोहा—यज्ञ दान तप, कर्म को, करै तजै नहिं तात ।
बुधजन पावन ये अहैं, शास्त्र लिखी यह बात ॥५॥

हे अर्जुन ! यज्ञ, दान, और तपादिक कर्मों का त्याग कदापि न करे, किन्तु इनको अवश्य करे । क्योंकि यज्ञ, दान और तप विवेकी पुरुष के चित्त को शुद्ध करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

दोहा—संग त्यागि फल त्यागि कै, करै इन्हैं चित्त चाह ।
मत उत्तम निश्चय यही, मेरो है नरनाह ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! आसक्ति और कर्मफल की आशा को त्यागकर इनका करना उत्तम है, केवल ईश्वर के निमित्त यज्ञ आदि कर्मों का करना चित्त को शुद्ध करता है, यह मेरा निश्चय हैं ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

दोहा-नित्य कर्म का त्याग है, अति अनुचित सुनु भाय ।
त्याग तासु अज्ञान ते, तामस त्याग कहाय ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञादि कर्म नित्य हैं, इनका त्यागना उचित नहीं है। जो मनुष्य मोह से इनको त्याग देते हैं, उनका त्याग तामस त्याग कहाता है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

दोहा-देह दुःख अरु क्लेश भय, कर्म न तजै जु कोय ।
सोहै राजस त्याग तेहि, किये न कछु फल होय ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! इनके करने से केवल शरीर को कष्ट होता है, इससे ये दुःखरूप हैं, यह जानकर जो इन कर्मों को त्यागता है, वह त्याग राजस त्याग कहाता है, इस त्याग का फल कुछ नहीं मिलता ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

दोहा-करनो निश्चय कर्म यह, ज्ञान कर्म कर जोय ।
संग और फल को तजै, सात्त्विक त्याग सु होय ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! 'यह कर्म अवश्य करना है' यह जानकर नित्यकर्म को अवश्य करे और आसक्ति तथा कर्म-फल की आशा को त्यागकर दो, यह त्याग सात्त्विक कहाता है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

दोहा—अशुभ कर्म सो द्वेष नहिं, शुभ सो प्रेम न होइ ।
बुद्धिमान् संशय विना, त्यागी सात्त्विक सोइ ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो सात्त्विक गुणों से युक्त हैं, बुद्धिमान् हैं, जिसके संशय दूर हो गये हैं, ऐसा त्यागी दुःखदायी कर्मों से द्वेष नहीं करता है, और सुखदायी कर्मों से प्रीति नहीं करता है, वह सात्त्विक त्यागी है ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

दोहा—देही कबहुँ न करि सकत, सब कर्मन को त्याग ।
कर्म फलन को त्याग जो, सोई है गो त्याग ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! कोई भी देहधारी सम्पूर्ण कर्मों का त्याग नहीं कर सकता है । परन्तु जो कर्मफलों को त्याग देता है, वही त्यागी है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् १२

दोहा—सुखदुख अरु दोनों सहित, त्रिविध कर्मफल जोइ ।
होत सकामी को सदा, निष्कामिन नहिं होइ ॥ १२ ॥

अनिष्ट अर्थात् अनचाही वस्तु का मिलना, इष्ट अर्थात् चाही वस्तु का मिलना, मिश्र अर्थात् चाही वा अनचाही वस्तुओं का मिलना, ये तीन प्रकार के कर्मफल कर्मफलाभिलाषियों को मिलते हैं, परन्तु जो संन्यासी हैं उनको ये नहीं मिलते हैं ॥ १२ ॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

दोहा-सब कर्मन की सिद्धि में, ये हैं पाँचो हेत ।
अर्जुन सुन तोसों हमहि, सांख्यतत्त्व कहि देत ॥१३॥

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के जो पाँच कारण साँख्यसिद्धान्त में कहे हैं, उनको कहता हूँ, सो तुम सुनो ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

दोहा-अधिष्ठान कर्ता करन, अरु नाना व्यापार ।
दैव गिनायो पाँचवो, सकल हेतु को सार ॥ १४ ॥

१ अधिष्ठान अर्थात् शरीर, २ कर्ता अर्थात् जीव, ३ करण अर्थात् मन और चक्षुरादि इन्द्रिय, ४ प्राण, अपानादिक पांच वायुओं की चेष्टा और ५ दैव अर्थात् अदृष्ट ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

दोहा-मन बानी अरु देह सों, कर्म करत नर जोय ।
नीक बुरा कोऊ करौं, इन बिन कछू न होय ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! शरीर, वाणी और मन के द्वारा मनुष्य जिस न्याय अथवा अन्याय कर्म को करता है, उसके ये ही पाँचो कारण हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

दोहा—याहू पै इक जीव को, देखत जो करतार ।
वह कछु देखत है नहीं, है वो मूढ़ गँवार ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! इन पाँच कारणों के होने पर भी जो केवल अपने आत्मा को कर्त्ता मानता है, वह दुर्बुद्धि अर्थात् ज्ञान का ज्ञाता नहीं है। इससे यथार्थ ज्ञान को नहीं देखता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

दोहा—कर्मलिप्त नहिं जासु धिय, अहङ्कार जेहि नाहि ।
सो इन लोकन को हनै, हनै न बन्धन ताहि ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! जिसको यह अहङ्कार नहीं है कि मैं कर्त्ता हूँ और जिसकी बुद्धि कर्मों में लिप्त नहीं है, वह इन सब लोकों को मारता है, तो भी उसे मारने का पाप नहीं लगता है ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

दोहा—ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता यही, प्रेरक कर्मन तीन ।
करण कर्म कर्त्ता यहै, आश्रय इनके चीन्ह ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! ज्ञान (कर्तव्य कर्मों में सुखसाधन होने का बोध), ज्ञेय (सुखसाधनकर्म), ज्ञाता (इस ज्ञान का आश्रय) ये तीनों कर्म के प्रेरक हैं। कारण (साधक), कर्म (कर्त्ता का इष्ट), और कर्त्ता (क्रिया का कर्त्ता) ये तीनों कर्म के आश्रय हैं ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

दोहा—ज्ञान कर्म कर्ता त्रिविध, गुण भेदन ते होहि ।
सांख्यशास्त्र में कथित जे, ते सब कहिहौं तोहि ॥१९॥

हे अर्जुन ! सांख्य शास्त्र के गुणों के भेद से ज्ञान कर्म और कर्ता तीन प्रकार के कहे हैं, उनको यथावत कहता हूँ, सुनो ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् २०

दोहा—जो सब जीवन में लखै, अव्यय आतम भाव ।
भिन्न भिन्न में एक सो, सात्त्विक ज्ञान बताव ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! जिस ज्ञान से स्थावर, जङ्गमादि सम्पूर्ण भिन्न २ प्राणियों में अभिन्न और अविनाशी एकही भाव दिखाई देता है, वह सात्त्विक ज्ञान है ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन च यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

दोहा—वस्तु एक सब भूत में, जासों विलग दिखाइ ।
पारथ तू अस जानु सो, राजस ज्ञान कहाय ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! जिस ज्ञान से सम्पूर्ण देही में रहनेवाला एक ही तत्त्व भिन्न भिन्न दिखाई देता है, वह राजस ज्ञान है ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

दोहा—प्रतिमादिक में पूर्ण जो, ईश्वर बुद्धी होय ।
तत्त्व और मुक्ती रहित, ज्ञान तामसी सोय ॥ २२ ॥

जिस ज्ञान से एक ही प्रतिमा में ईश्वर का सम्पूर्णरूप से रहना मान लिया जाता है, अर्थात यह प्रतिमा ही ईश्वर हैं, ऐसा मान लिया जाता है, जो ज्ञान निर्मूल है, जिस ज्ञान में ईश्वर का अवलम्बन नहीं है, ऐसे ज्ञान को तमस ज्ञान कहते हैं ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

दोहा—संग राग अरु द्वेष विनु, नियत कर्म किय जोय ।
फल की इच्छा त्याग के, सात्त्विक कर्मसु होय ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जो कर्म नित्य किया जाता है, जिस कर्म में मनुष्य की आसक्ति नहीं होती है, जो राग और द्वेष के विना किया जाता है और जिस कर्म में फलप्राप्ति की इच्छा न हो, वह कर्म सात्त्विक कहाता है ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

दोहा—फल इच्छा से करत जो, अथवा करि अहङ्कार ।
जामे श्रम अति होय सो, राजस कर्म बिचार ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! जो कर्म फल की इच्छा से किया जाता है अथवा अहङ्कार से किया जाता है और जिससे बहुत परिश्रम होता है, वह राजस कर्म है ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

दोहा--भावि शुभाशुभ नाश धन, परपीड़ा न विचार ।
करत कर्म जो मूढ़ है, सो तामस निरधार ॥ २५ ॥

अनुबन्धन अर्थात् अपने आगामि जन्म में इस कर्मका फल शुभ होगा अथवा अशुभ, धन-व्यय, हिंसा और अपनी सामर्थ्य के विचारे बिना जो काम किया जाता है, उसे तामस कर्म कहते हैं ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विकउच्यते२६

दोहा-धीरज धरि उत्साह युत, तजै सङ्ग अभिमान ।
सिद्धअसिद्धी तुल्य जेहि, कर्त्ता सात्त्विक जान ॥ २६ ॥

जो कर्म में आसक्त नहीं होता है, जिसको अपने कर्त्तापन का अहङ्कार नहीं है, जो धैर्य और उत्साह से युक्त है, जो काम के सिद्ध होने अथवा असिद्ध होने में प्रसन्न और शोकग्रस्त नहीं होता है, वह सात्त्विक कर्त्ता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

दोहा-रागी चाहै कर्मफल, लोभी हिंसक होय ।
हर्ष शोक-युत अशुचि रह, कर्त्ता राजस सोय ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! जो स्त्री, पुत्र आदिकों में स्नेह कर कर्म करने में आसक्त होता है, जिसे कर्मफल प्राप्त करने की इच्छा रहती है, जो लोभी है, जो औरों को वध करते व उनको पीड़ा देने में उत्सुक रहता है, जो अपवित्र रहता है, जो हर्ष और शोक से युक्त है, वह कर्त्ता राजस कहाता है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

दोहा—सावधान रह कबहुँ नहिं, करै न नेकविचार ।
काहू सों ह्वै नम्र नहिं, शठता करत अपार ॥
औरन को अपमान करि, अरु आलसयुत होय ।
दीरघसूत्री शोकयुत, कर्त्ता तामस सोय ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! जो शास्त्रोक्त उपायों में असावधान होता है, विवेकी नहीं होता है, किसी से नम्र नहीं होता है, शठ होता है, औरों का अपमान करता है, शोक से भरा हुआ रहता है और काम को समय पर न करके समय को टाला करता है, वह कर्त्ता तामस कहाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

दोहा—बुद्धि को अरु धैर्य को, भेद तीन जो होय ।
बिलग २ गुणभेदते, कहौं सकल सुनु सोय ॥ २९ ॥

हे धनञ्जय ! सात्त्विक, राजस, तामस इन तीनों गुणों के कारण, बुद्धि और धृति के जो तीन भेद होते हैं, उनको मैं पूर्णरूप से भिन्न भिन्न कहता हूँ, तुम उन्हें सुनो ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

दोहा-जान निवृत्ति प्रवृत्ति जो, कारज और अकार्य ।
बन्ध मोक्ष भय अभय हैं, सात्विक बुद्धि सुआर्य ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! जो बुद्धि कर्तव्य कर्मों में प्रवृत्ति और अकर्तव्य कर्मों में निवृत्ति को जानती है, तथा कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्ध और मोक्ष को जानती है, वह सात्विक बुद्धि है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

दोहा-जाते धर्म अधर्म अरु, कार्य अकारज दोउ ।
जानत नाहिं यथार्थ हैं, बुद्धि राजसी सोउ ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! जिस बुद्धि से धर्म, अधर्म और कार्य, अकार्य का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

दोहा-पापहिं जाने पुण्य करि, तमसों ढकिकै जोय ।
सबै वस्तु उलटी लखै, बुद्धि तामसी सोय ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! अज्ञानरूप अन्धकार से ढकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म समझती है, और सम्पूर्ण वस्तुओं को उलटा समझती है, वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ३३ ।

दोहा—इन्द्रिय मन अरु प्राण के, कर्म न धारत जौन ।
योगयुक्त निश्चल सदा, सात्त्विक धृति है तौन ॥ ३३ ॥

हे पार्थ ! जिस एकाग्र और अव्यभिचारिणी अर्थात् किसी वस्तु पर न ललचाने वाली धृति से मन प्राण और इन्द्रियों के कर्मों को धारण किया जाता है, वह सात्त्विकी धृति है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

दोहा—धर्म काम अरु अर्थ को, धारत है नित जोय ।
अवसर ते फलको चहैं, धीरज राजस सोय ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! अवसर पर फल की इच्छा करनेवाला जिस धृति के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है, वह राजसी धृति है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥३५॥

दोहा—जासों स्वप्न विषाद भय, शोक गर्व धरि लेइ ।
अज्ञानी छाड़े नहीं, धृति है तामस तेइ ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! जिस धृति से अज्ञानी पुरुष स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को ग्रहण करते हैं, वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥३६॥

दोहा—अर्जुन अब मोपै सुनो, सुख के तीनो भेद ।
सुख जाके अभ्यास है, दुख को होये छेद ॥ ३६ ॥

हे भरतर्षभ ! अब मैं तीन प्रकार के सुखों को कहता हूं, उन्हें सुनो । अभ्यास करने से बड़ा आनन्द होता है और दुःख का भी नाश हो जाता है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

दोहा-जो पहिले विष सम लगै, पाछे अमृतहि होय ।
आतमबुद्धि परसाद ते, ह्वै सत्त्विक सुख सोय ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! जो पहिले विष के समान लगता है और परिणाम में अमृत के समान सुखदायी होता है, जो आत्मबुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न हुआ हो, वह सात्त्विक सुख कहाता है ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

दोहा-विषय इन्द्रि संयोग ते, पहिले अमृत समान ।
जो सुख पाछे विष लगै, सो राजस सुख जान ॥ ३८॥

हे अर्जुन ! इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न हुआ जो सुख प्रथम अमृत के समान मालूम होता है, और परिणाम में विष के समान होता है, उसे राजस सुख कहते हैं ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

दोहा-जो पहिले पाछेहु पुनि, आतम मोहन हेत ।
तामस सुख परसाद अरु, निद्रा आलस देत ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन ! जो सुख पहले और परिणाम में भी आत्मा को मोहता है तथा निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है, उसे तामस सुख कहते हैं ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०।

दोहा—पृथिवी मो अरु स्वर्ग मो, देवन मो नहिं कोय ।
इन तीनों गुण सो बच्यो, जीव दृष्टिगत होय ॥ ४० ॥

हे अर्जुन ! इन तीनों प्राकृतिक सत्त्वादि गुणों से मुक्त हो, ऐसा न तो कोई जीव पृथ्वी में है, न स्वर्ग में है, न देवताओं में है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

दोहा—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अरु, शूद्रन के सबकर्म ।
स्वाभाविक गुण ते भये, अलग २ है धर्म ॥ ४१ ॥

हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों के कार्य प्रकृति से उत्पन्न सत्त्वादि गुणों के कारण पृथक् २ बनाये गये हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥४२॥

दोहा—स्वाभाविक ब्राह्मण करम, शम दम तप शुचि भाव ।
आस्तिकता ऋजुता क्षमा, ज्ञान विज्ञान कहाव ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन ! शम, दम, तप, शौच, क्षमा, नम्रता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ये दश ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

दोहा—स्वाभाविक क्षत्रिय करम, शौर्यतेजधृतिदान ।
राजभाव चातुर्य पुनि, रणमें भाग न जान ॥ ४३ ॥

हे अर्जुन ! शूरता, धीरज, चतुराई, युद्ध से न भागना, दान देना और ईश्वरभाव अर्थात् प्रजा को नियम में रखने के लिये दण्ड आदि देने की शक्ति, ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

दोहा—गौरक्षा खेती वणिज, वैश्यकर्म तू जानु ।
तीन वर्ण की चाकरी, शूद्र कर्म यह मानु ॥ ४४ ॥

खेती करना, गोपालनादि करना और व्यापार करना ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं । तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्रों का स्वाभविक कर्म है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

दोहा—तत्पर निजनिज कर्म रहि, लहै सिद्धि सबकोय ।
सिद्धि मिलत निजकर्मसों, जेहि विधि अबसुनुसोय ॥४५॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपने कर्म में तत्पर रहता है वही सिद्धि पाता है । अब जिस भांति अपने कर्म में तत्पर रह कर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है, सो सुनो ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

दोहा—उपजे जाते जीव सब, सबको व्यापक जोइ।
पूजि ताहि निजकर्मसों, लहै सिद्ध सबकोइ ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन ! जिस परमात्मा से सम्पूर्ण प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और जिस परमेश्वर से यह सब संसार व्याप्त है उस परमेश्वर को जो कोई अपने कर्मों से पूजता है वही सिद्धि पाता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

दोहा—उत्तम हूँ परधर्मते, भलौ निगुण निजकर्म।
पाप न यामें होत कछु, करत आपनो धर्म ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! पराया धर्म अति उत्तम भी हो तो भी उससे अपना निर्गुण धर्म ही अच्छा है, क्योंकि अपने स्वाभाविक कर्म के करने से पाप नहीं होता है ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

दोहा—दोषयुक्त निज कर्म लखि, करौ न वाको त्याग।
दोष सहित आरम्भ सब, धूम युक्त जस आग ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन ! अपने स्वाभाविक कर्म में कुछ दोष भी हो तो भी उसे न छोड़ना चाहिये, सब ही कर्म दोष युक्त हैं, जैसे अग्नि धुयें से व्याप्त है ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

दोहा—करै न बुद्धि आसक्त कहुँ, जीते मत तजि आस।
परम सिद्धि निष्कर्मको, पावै करि संन्यास ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! जिनकी बुद्धि कहीं भी आसक्त न हो, जिसने अपनी आत्मा को वश में कर लिया है और जिसकी कर्मफल से स्पृहा दूर ही गई है, ऐसा पुरुष त्याग रूप संन्यास से निष्कर्म अर्थात् सब कामों से निवृत्तिरूप सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

दोहा-पाय सिद्धि नरब्रह्म को; जेहि विधि पावत सार ।
कहौं तोहिं संक्षेप सो, निष्ठा ज्ञान अपार ॥ ५० ॥

हे कौन्तेय ! सिद्धपुरुष निष्कर्म सिद्धि को पाकर जिस भाँति ब्रह्म को प्राप्त होता है, सो मैं संक्षेप से कहता हूं तुम सुनो, यह ज्ञान की परा निष्ठा है ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौव्युदस्यच॥५१॥

दोहा-शुद्ध बुद्धिसो युक्त है, धृतिसों बुद्धिसम्हार ।
शब्दआदि विषयन तजै, राग द्वेष करिछार ॥ ५१ ॥

हे अर्जुन ! पुरुष सात्त्विकी बुद्धि से युक्त हो धारणा से अपनी आत्मा को वशीभूत कर शब्द आदि के विषय का परित्याग करे और राग द्वेष को दूरकर देवे ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

दोहा-रहै इकत खावै स्वलप, वाक्य काय मन जीत ।
ध्यान योग तत्पर सदा, गहै विरागी रीत ॥ ५२ ॥

हे अर्जुन ! एकान्त में वास करे, थोड़ा भोजन करे, वाणी, काया और मन को वश में राखे, नित्य ध्यान योग में तत्पर रहे और मन में दृढ वैराग्य रक्खे ॥ ५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

दोहा— काम परिग्रह कोप बल, दर्प मान तजि देइ ।
शान्त होई ममता तजै, ब्रह्मभाव गहि लेइ ॥ ५३ ॥

हे अर्जुन ! पुरुष अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, वस्तुओं का संग्रह, इन सबको छोड़े, ममता को त्यागकर शान्तचित्त हो जावे, तब ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

दोहा—ब्रह्म होइ सन्तुष्ट मन, शोक करै नहिं लोभ ।
सब जीवन को सम लखै, पावै भक्ति अछोभ ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! जो ब्रह्म में निश्चल चित्त रखता है, मन को प्रसन्न रखता है, किसी नष्ट वस्तु का न शोक करता है, न किसी अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है और सम्पूर्ण प्राणियों में सम बुद्धि रखता है वह मेरी परम भक्ति को पाता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

दोहा—भक्ती ते जानत अकथ, सब व्यापक मम रूप ।
मोहि जानिकै तत्त्वसों, पावत ब्रह्म स्वरूप ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन ! पुरुष भक्ति द्वारा मेरे सर्वव्यापी रूप के प्रमाण को और मेरे सच्चिदानन्द स्वरूप के तत्त्व को जानता है, तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर प्रविष्ट होता है ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

दोहा-करत सदा सब कर्म को, मेरो आश्रय पाय ।
मम प्रसाद ते बसत है, अक्षय पदमों जाय ॥ ५६ ॥

मेरा ही आश्रय रखने वाला पुरुष सदा नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करके भी मेरी कृपा से अनादि और अनन्त पद को प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ ५७ ॥

दोहा-मनसों सब कर्महि अरपि, मो तत्पर रहुभाय ।
बुद्धियोग को शरण गहि, मोमें चित्त रमाय ॥ ५७ ॥

हे अर्जुन ! अपने मन को मुझसे लगाकर सब कर्मों को मुझ में अर्पण कर और ज्ञानयोग का आश्रय लेकर सदा अपना चित्त मुझ में स्थिर कर दे ॥ ५७ ॥

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

दोहा-मो प्रसाद ते होयगो, सब दुःखन ते पार ।
अहङ्कारते बिनु सुने, नष्ट होयगा यार ॥ ५८ ॥

हे अर्जुन ! जो तू अपना चित्त मुझमें लगा देवेगा तो मेरी कृपा से संसार के सब दुःख से तर जावेगा । और

जो तू अहङ्कार से मेरी शिक्षा को न सुनेगा तो नष्ट हो-जायगा ॥ ५८ ॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैषव्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

दोहा—लरो नहीं जो कहत तू, अहङ्कार वश होहि ।
निश्चय यह तुव झूठ है, प्रकृति लरै यहि तोहि ॥ ५९ ॥

जो तू अहङ्कार के वश होकर यह समझता है कि मैं युद्ध न करूँगा, तेरा यह व्यवसाय मिथ्या है तेरी प्रकृति तुझे युद्ध में प्रवृत्त अवश्य करायेगी ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥

दोहा—स्वाभाविक निजकर्मके, बन्धन फंसि तू भाय ।
परवश ह्वै करिहौं करम, कीन्ह चहत जेहि नाय ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता है, तुझ को परवश होकर वही कर्म करना पड़ेगा, क्योंकि तू अपने स्वाभाविक क्षत्रिय धर्म से बँधा हुआ है ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

दोहा—ईश्वर सबके हृदय में, अर्जुन करत निवास ।
भ्रमण करावे जीत सब, करि माया को दास ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सबके हृदय में निवास करता है वह माया से सब जीवों को वैसेही घुमाता रहता है जैसे सूत्रधार कठपुतलियों को पेंचपर घुमाता है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम् ६२

दोहा—जाहु धाय ताको शरण, सब प्रकार ते भाय ।
शान्ति और अविनाश पद, तिनकी कृपाते पाय ॥ ६२ ॥

हे भरतर्षभ अर्जुन ! सब प्रकार से तू उसी ईश्वर की शरण में जा । उसी के अनुग्रह से तुझे शान्ति प्राप्त होवेगी और अविनाशी पद भी प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

दोहा—यहि प्रकार तोसों कह्यो, परम गुप्त यह जान ।
जस चाहो तैसो करो, यहि विचार हिय मान ॥ ६३ ॥

हे अर्जुन ! गुप्त से भी गुप्त ज्ञान मैंने तुझको सुनाया है, इसको भलीभाँति विचार कर जैसी तेरी इच्छा हो वैसा करो ॥ ६३ ॥

सर्वं गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

दोहा—सब गुप्त ते गुपुतपुनि, परमवचन सुनमोर ।
दृढ़बुद्धि मम मित्रतू, याते हित कहु तोर ॥ ६४ ॥

हे अर्जुन ! तू स्थिर बुद्धिवाले और मेरा परम प्रिय मित्र है । इससे तेरे हित के लिये एक और भी अत्यन्त गुप्त-बात कहता हूँ उसे सुनो ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

दोहा- मोमें मन धरि भक्तिकर, पूज मोहिं मन मोहिं ।
मो पै ऐहो अन्त प्रिय, सत्य कहौं वद तोहिं ॥ ६५ ॥

हे अर्जुन ! तू मुझमें चित्त लगाकर मेरी भक्ति कर, मेरा पूजन कर और मुझको नमस्कार कर यदि ऐसा करेगा तो अन्त में मुझमें आकर मिल जायगा । तू मेरा प्रिय है इससे मैं सत्यप्रतिज्ञा करके कहता हूं ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

दोहा-सब धर्मन को त्यागि तू, एक शरण गहु मोर ।
शोक त्यागु सब पाप को, दूर करौंगो तोर ॥ ६६ ॥

हे अर्जुन ! तू सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ, किसी बात का शोक मत कर, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

दोहा-ईश भक्ति सेवा नहीं, जाके तपहूं नाहिं ।
तासो तू कहियो नही, जो मोंहि निन्दत आहिं ॥ ६७ ॥

हे अर्जुन ! जो तपस्वी नहीं है, जो मेरा भक्त नहीं है, जो ईश्वर की (मेरी) शुश्रूषा नहीं करता है और जो मेरी निन्दा करता है, उससे इस ज्ञान को कभी भी मत कहना ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

दोहा-परमगुप्त यहि ज्ञान को, मो भक्तन कहजोय ।
परम भक्ति मोरी लहै, लीन मोहिमें होय ॥ ६८ ॥

हे अर्जुन ! जो इस अत्यन्त गुप्त ज्ञान को मेरे भक्तों को सुनावेगा वह मेरी परम भक्ति पाकर अन्त में निश्चय ही मुझमें लीन हो जावेगा ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यःप्रियतरो भुवि॥६९॥

दोहा-सब मनुष्य में वाहि सम, मो प्रियकारि न कोय ।
होवेगी वासों अधिक, सत्य कहौं प्रियमोय ॥ ६९ ॥

हे अर्जुन ! जो गीता का उपदेश करता है, मनुष्यों में उससे अधिक मेरा प्रिय करनेवाला कोई नहीं है और न पृथ्वी में उससे अधिक मुझे कोई प्यारा है ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

दोहा-पढ़े पवित्र संवाद यह, हम दोनों का जोय ।
मम मत अस मख ज्ञान ते, मोहि यजन कियसोय ॥ ७० ॥

हे अर्जुन ! जो कोई हम दोनों के इस धर्म सम्बन्धी संवाद को पढ़ेगा, वह ज्ञानयज्ञ द्वारा भजन करेगा, यही मेरा मत है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तःशुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१

दोहा-श्रद्धायुत निन्दक न पुनि, याहि सुनै नर जोय ।
पुण्यवन्त को लोक शुभ, लहे मुक्त हूँ होय ॥ ७१ ॥

हे अर्जुन ! जो कोई मनुष्य श्रद्धापूर्वक गीता को पढ़ता है और इसका निन्दक नहीं है वह मुक्त होकर पुण्य करनेवालों के शुभ लोक में जाता है ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

दोहा–अर्जुन करि एकाग्र मन, सुन्यो कि मम उपदेश ।
मोह छुट्यो अज्ञान को, कहु अब नस्यो कलेश ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्यों तैंने एकाग्रचित्त से मेरे उपदेश को सुना है या नहीं । हे धनञ्जय ! इसके सुनने से तेरा अज्ञान जन्य मोह दूर हुआ या नहीं ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

दोहा–छुट्यो मोह आई स्मृति, तुव प्रसाद भगवान ।
भयो दूर संदेह तुव वचन पालिहौं मान ॥ ७३ ॥

अर्जुन कहने लगे कि हे अच्युत ! आपके अनुग्रह से मेरा मोह नष्ट हुआ, ज्ञान का स्मरण होगया और मुझे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा, अब मैं स्थिर होकर आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

सञ्जय उवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

दोहा–हरि अर्जुन संवाद यह, सुन्यो भले विधि तात ।
अति अद्भुत जाके सुने रोमहर्ष होइ जात ॥ ७४ ॥

सञ्जय बोले कि हे धृतराष्ट्र ! मैंने महात्मा वासुदेव और अर्जुन का यह अद्भुत और रोमहर्षण (रोम को खड़ा करने वाला) संवाद सुना ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ७५

दोहा-परम गुप्त यहि योग को,कह्यो कृष्ण योगेश ।
जिन मुखते हौ सुनि सक्यो व्यासप्रसाद विशेष ॥ ७५ ॥

हे धृतराष्ट्र ! साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण के निज मुख से निकले हुए इस परम गोपनीय योग को मैंने व्यासजी की कृपा से सुना है॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

दोहा-अद्भुत केशव पार्थकी, सुमिर सुमिर यह बात ।
बार बार हर्षित रहौ,अति पवित्र सुनु तात ॥ ७६ ॥

हे राजन् ! केशव भगवान् और अर्जुन के अद्भुत और पवित्र संवाद को स्मरण करके मैं बार बार हर्षित होता हूँ और मेरे रोमाञ्च खड़े होते हैं ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

दोहा-तेहि अद्भुत हरिरूप को; सुमिर सुमिर मोहि होइ ।
हर्ष और आश्चर्यअति,बारबार कहुँ सोइ ॥ ७७ ॥

हे राजन् ! भगवान् के उस अद्भुत विश्वरूप को स्मरण कर करके मुझे बड़ा आश्चर्य होता है और हर्ष के कारण बार बार मुझे रोमाञ्च हो जाता है ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

दोहा—योगीश्वर श्रीकृष्ण जहँ अरु अर्जुन धनुधारि ।
तहाँ नीतिलक्ष्मीविजय, अरु विभूति निर्धारि ॥ ७८ ॥

हे राजन् ! मेरा यह सिद्धान्त है कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और गाण्डीवधारी अर्जुन हैं वहाँ ही राज्यलक्ष्मी विजय स्थिर विभव है और स्थिर नीति है ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषो-
त्तमयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।



अथ सप्तश्लोकी गीता प्रारभ्यते ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १ ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ २ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ३ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयान्समनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ४ ॥

उर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ५ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ ६ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सप्तश्लोकी गीता समाप्ता ।



पुस्तक मिलने का पता—
भार्गव पुस्तकालय,
त्रिलोचन, बनारस सिटी ।

बाबू कैलासनाथ भार्गव द्वारा, भार्गवभूषण प्रेस, बनारस में मुद्रित ।

महाभारत भाषा

* गुटका *

लेखक—

पं० रामलग्न पाण्डेय 'विशारद'

भारतः पञ्चमो वेदः के अनुसार महाभारत पाचवाँ वेद है। संस्कृत में होने के कारण अब तक इसका प्रचार बहुत कम था। पर हर्ष है कि वर्तमान युग में इसके छोटे बड़े सभी प्रकार के संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। कारण कि देश और समाज को जाग्रत करने के लिये देश का इतिहास ही पथ-प्रदर्शक होता है। अतः देश और समाज की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर ही हमारे कार्यालय ने भारत का यह संस्करण गुटका के रूप में प्रकाशित किया है। छपाई सफाई पर ध्यान रखते हुये एन्टिक कागज़ पर अठारहों पर्व का सम्पूर्ण वर्णन किया गया है। भाषा सरल और सुबोध है। दो रंगे तिनरंगे और एक रंगे ३४ चित्र लगे रहने पर भी मूल्य केवल ३) रखा गया है।

पुस्तक मिलने का पता—

भार्गव पुस्तकालय बनारस सिटी

वेदान्त-जगत् में नया आविष्कार—

छपकर तैयार हो गया ! छपकर तैयार हो गया !!



श्रीमद्भगवद्गीता गुटका



दर्शनीय (सम्पूर्ण)

१८ अध्याय मूल, दोहा, संयुक्त भाषा टीका के।

९० भगवद्गीताभाषाटीकायां

हे अर्जुन ! जो कोई पुरुष अन्तःकरणों से इन्द्रियों का नियमन करके स्वयं फल के विषे अनासक्त होकर ईश्वरार्पण बुद्धि द्वारा कर्मेन्द्रियों से स्मार्तादि कर्मों को चित्तशुद्धि के लिए करता है उस पुरुषको श्रेष्ठ जानना॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ८॥

दोहा-निश्चय कर तू कर्म को, भल अकर्मतेमीत।
विनु कीने कछु कर्मके, देह रहै केहि रीत ॥

हे अर्जुन ! इस कारण तुम अवश्य विधि युक्त सन्ध्योपासनादिक कर्मों को करो कारण कि बिलकुल कर्म न करने से कुछ करना श्रेष्ठ है, जो सर्वथा कर्मों का त्याग ही कर दोगे तो तुम्हारे देहका रक्षा भी न होगी॥८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

दोहा-विष्णुभक्ति बिनुकर्म जे, जगबंधन ते होत ।
हरिके हित कर्मनि करो, मोटि फलन के भोत ॥

हे कौन्तेय अर्जुन ! ईश्वर निमित्त कर्म के सिवाय अन्य दूसरे कर्म इस लोक के बन्धनरूप हैं, इस कारण फल की इच्छा को छोड़कर कर्म को अवश्य करो ॥९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥



२ पृष्ठ नमूना देखिये



दशमोऽध्यायः। १६१

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्यानां वादःप्रवदतामहम् ॥ ३२॥

दोहा-सब सृष्टिनको आदि अरु, मध्य अंत मोहि मान ।
वादिनमें सिद्धान्त हौं, हौं अध्यातम ज्ञान ॥

हे अर्जुन! सृष्टिका आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ, विद्याओं में अध्यात्मविद्या, और वादियों में सिद्धान्त मैं हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वःसामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥३३॥

दोहा-अक्षर माहिं आकार हौं, द्वन्द्व समासनजानु ।
हौंही अक्षय कालहौं, पालकसबमें मानु ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! अक्षरों में आकार, समासों में द्वंद्वसमास अक्षय काल और चारों ओर मुखवाला सबका भरणपोषणकर्त्ता मैं हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिःश्रीर्वाक्चनारीणां स्मृतिर्मेधाधृतिः क्षमा

दोहा-सब संसारके मृत्यु हौं, औ उपजावनहार ।
श्रीकीरति वाणी क्षमा, धृतिमति स्मृति हौं नार ॥

हे अर्जुन ! सबका संहारकर्त्ता मृत्यु मैं हूँ । सबका उत्पन्न करनेवाला मैं हूँ । स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥ ३४ ॥

इस संसार में गीता ऐसा पवित्र लोकप्रिय ग्रन्थ न मालूम कहाँ कहाँ से और किस-किस रंग-ढंग से सज कर निकला होगा तथापि अबतक उपरोक्त साइज़ एवं सज-धज में छपकर प्रकाशित होने का अभाव ही पाया गया। इसलिये मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि एक प्रति नमूनार्थ भी मँगाकर आप उक्त गीता को देखेंगे तो स्वयं कहेंगे कि यह दर्शनीय गीता, गीताक्षेत्र में वन्दनीय, सराहनीय होते हुए दर्शन करने योग्य है। सर्वोपकारार्थ मूल्य भी लागत मात्र केवल ।≈) रक्खा गया है। डाक व्यय अलग से ।) लगेगा।

पुस्तक मिलने का पता—

भार्गव पुस्तकालय,

गायघाट, बनारस सिटी।